वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००
विवेक • ज्योति
वर्ष ४७ अंक ८ अगस्त २००९
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २००९

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४७
अंक ८

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

पश्चिम बंगाल में 'आइला' तूफान राहत कार्य

संक्षिप्त प्रतिवेदन तथा अपील

पश्चिम बंगाल में अभी हाल ही में आये 'आइला' नामक तूफान के फलस्वरूप हुये विध्वंश के बाद रामकृष्ण मठ तथा मिशन ने हजारों तूफान पीड़ितों के बीच प्राथमिक राहत कार्य आरम्भ किया। विवरण इस प्रकार है –

१. नरेन्द्रपुर आश्रम, कोलकाता – ने दक्षिण चौबीस परगना जिले के सागर, नामखाना, काकदीप, पथेरप्रतिमा तथा गोसावा ब्लॉक के ४१ गाँवों के हजारों तूफान पीड़ितों के बीच निम्नलिखित सामग्री वितरित की – चावल १२०० किलो; दाल २०० किलो; चिउड़ा २०,००० किलो; गुड़ १०,२१२ किलो; दूध पाउडर १०० किलो; बिस्कुट २६ किलो; सत्तू २० किलो; ओ.आर.एस. ८२,००० पैकेट; जलपात्र ४,१६०; हैलोजन की गोलियाँ ८ लाख; ब्लीचिंग पाउडर ६,५०० किलो; हाइजिन किट्स २,६७० सेट; तिरपाल ३,९८० नग ।

२. बेलघरिया आश्रम, कोलकाता द्वारा दक्षिणी २४ परगना जिले के १२ गाँवों में ६,९८५ परिवारों के ३१,२७३ पीड़ितों के बीच ६२,५०० किलो चिउड़ा; ६,२०० किलो चीनी; २ लाख ४५ हजार हैलोजीन की गोलियाँ; १,२५० किलो ब्लीचिंग पाउडर और ६०० किलो चूना का वितरण किया गया।

३. मनसादीप आश्रम द्वारा उपरोक्त जिले के ही ७ गाँवों के २,५२४ परिवारों के १३,७६९ पीड़ितों में ६,००० किलो चिवड़ा; १,५०० किलो चीनी; २५ किलो दूध पाउडर; ४० किलो बिस्कुट; ५,००० ओ.आर.एस. पैकेट्स; और ५०,००० हैलोजेन की गोलियाँ वितरित हुईं।

४. रहड़ा आश्रम, कोलकाता द्वारा उत्तरी २४ परगना जिले के १२ गाँवों के १६,४७० पीड़ितों के बीच ६,००० किलो चिउड़ा; १,००० किलो चीनी; ४४ किलो दूध-पाउडर; ७२ किलो बिस्कुट; १४०० लीटर मिनरल वाटर तथा डेढ़ लाख हैलोजेन की गोलियाँ वितरित की गईं। ५७५ रोगियों की चिकित्सा की भी गई।

५. सिकरा कुलीन ग्राम, आश्रम के द्वारा संदेसखाली ब्लॉक (१) के ५ गाँवों में हजारों तूफान पीड़ितों के बीच खिचड़ी का वितरण किया गया। इसके अतिरिक्त २२ गाँवों के १३,००० पीड़ितों के बीच २,७५० किलो चिउड़ा; ३१ टिन गुड़; १२० किलो बिस्कुट; २५ किलो दूध पाउडर तथा २०,००० हैलोजन की गोलियाँ बाँटी गयीं। पीड़ित रोगियों को चिकित्सा की भी व्यवस्था की जा रही है।

६. स्वामीजी का पैत्रिक भवन, कोलकाता द्वारा ४ गाँवों के २००० पीड़ितों के बीच चिउड़ा, गुड़, चावल, दाल, खाद्य तेल, बिस्कुट, पेयजल, तथा प्लास्टिक शीट बाँटे जा रहे हैं।

७. टाकी आश्रम – संदेसखाली और हिंगलगंज ब्लॉकों के तूफान पीड़ितों में चिउड़ा, गुड़, बिस्कुट, तथा हैलोजेन गोलियों का वितरण कर रहा है।

८. सारदापीठ आश्रम, बेलूड़ – उपरोक्त दोनों ब्लॉकों के रोग-पीड़ितों को डॉक्टरी राहत पहुँचा रहा है।

९. बाँकुड़ा आश्रम के द्वारा वहाँ के आश्रमपाड़ा मुहल्ले के १५ परिवारों को अपनी झोपड़ियों के पुनर्निर्माण हेतु बाँस तथा खपरैल मुहैया कराया गया।

''रामकृष्ण मिशन'' को दिये गये सभी दान आयकर अधिनियम के ८०-जी धारा के अन्तर्गत कर मुक्त हैं। कृपया दान-राशि का चेक या ड्राफ्ट ''रामकृष्ण मिशन'' के नाम से बनवायें, जो कोलकाता में देय हो और निम्न पते पर भेज दें –

महासचिव, रामकृष्ण मिशन
पोस्ट – बेलूड़ मठ
जिला – हावड़ा (प. बंगाल) पिन – ७११२०२
फोन - २६५४-११४४/११८०/५७००/५७०२/९६८१ फैक्स - २६५४ ९८८५
E-mail : rkmrelief @gmail.com / relief @belurmath.org
Website : www.belurmath.org / relief

बेलूड़ मठ
दिनांक ४-६-२००९

स्वामी प्रभानन्द
महासचिव

वर्ष ४७ अगस्त २००९ अंक ८

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

सर्वोऽपि बाह्यसंसारः पुरुषस्य यदाश्रयः ।
विद्धि देहमिदं स्थूलं गृहवद्गृहमेधिनः।।९०।।

अन्वय – पुरुषस्य सर्वः अपि बाह्यसंसारः यद्-आश्रयः, इदं स्थूलं देहं गृहमेधिनः गृहवत् विद्धि ।

अर्थ – जिस स्थूल शरीर के आश्रय से व्यक्ति का सारा बाह्य संसार चलता है, उसे गृहस्थ के घर के समान समझो ।

स्थूलस्य सम्भव-जरा-मरणानि धर्माः
स्थौल्यादयो बहुविधाः शिशुताद्यवस्थाः ।
वर्णाश्रमादि-नियमा बहुधाऽमयाः स्युः
पूजावमानबहुमानमुखा विशेषाः।।९१।।

अन्वय – सम्भव-जरा-मरणानि धर्माः, स्थौल्य-आदयः बहुविधाः, शिशुता-आदि-अवस्थाः, वर्णाश्रम-आदि-नियमाः, बहुधा-आमयाः, पूजा-अवमान-बहुमान-मुखाः विशेषाः स्थूलस्य (देहस्य) स्युः ।

अर्थ – जन्म-वार्धक्य-मृत्यु आदि गुण; स्थूलता (तथा कृशता) आदि; बचपन आदि अवस्थाएँ, वर्ण तथा आश्रमों के नियम; अनेक प्रकार के रोग; मान-अपमान तथा अति सम्मान आदि विशेषताएँ स्थूल शरीर की ही हुआ करती हैं ।

बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि-
घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात् ।
वाक्पाणिपादा गुदमप्युपस्थः
कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु।।९२।।

अन्वय – विषय-अवबोधनात् श्रवणं त्वग्-अक्षि-घ्राणं जिह्वा च बुद्धि-इन्द्रियाणि, वाक्-पाणि-पादाः गुदम्-अपि-उपस्थः कर्मसु प्रवणेन कर्म-इन्द्रियाणि ।

अर्थ – कर्ण, त्वचा, नेत्र, घ्राण तथा जिह्वा – विषयों का बोध कराने के कारण ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं; और वाणी, हाथ, पाँव, मलद्वार तथा लिंग की कर्म में प्रवृत्ति होने के कारण कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं ।

निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधीर-
हंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः ।
मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धिः
पदार्थाध्यवसायधर्मतः।।९३।।
अत्राभिमानादहमित्यहंकृतिः ।
स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम् ।।९४।।

अन्वय – अन्तःकरणं स्ववृत्तिभिः मनः-धीः-अहंकृतिः-चित्तम् इति निगद्यते । संकल्प-विकल्पन-आदिभिः तु मनः । पदार्थ-अध्यवसाय-धर्मतः बुद्धिः । अत्र (देहे) अहं इति अभिमानात् अहंकृतिः स्वार्थ-अनुसन्धान-गुणेन चित्तम् ।

अर्थ – अंतःकरण – अपनी क्रियाओं की विभिन्नता के अनुसार मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार कहलाता है । संकल्प-विकल्प के कारण 'मन' कहलाता है । पदार्थ की निश्चित अवधारणा के गुण से 'बुद्धि' कहलाता है । शरीर आदि में 'मैं' के अभिमान से 'अहंकार' कहलाता है और अपने सुख-साधन की खोज के गुण से 'चित्त' कहलाता है ।

प्राणापानव्यानोदानसमाना भवत्यसौ प्राणः ।
स्वयमेव वृत्तिभेदाद्विकृतिभेदात्सुवर्णसलिलादिवत् ।।९५।।

अन्वय – असौ प्राणः सुवर्ण-सलिल आदिवत् विकृतिभेदात् स्वयम् एव वृत्तिभेदात् प्राण-अपान-व्यान-उदान-समानाः भवति ।

अर्थ – यह प्राण स्वर्ण या जल आदि के समान वृत्तिभेद से, विकृति की भिन्नता के कारण, स्वयं ही प्राण-अपान-व्यान -उदान तथा समान – नामक पंच वायुओं में परिणत होता है ।

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(भूपाली–रूपक)

हे विवेकानन्द युग-आचार्य जन-हितकारी ।
शक्ति देकर दूर करिये तम-प्रमाद हमारी ।।

महायोगी महाध्यानी, ऋषि पुरातन सिद्ध ज्ञानी,
फिर मिटाने धर्मग्लानि, नर कलेवर धारी ।।

राष्ट्र-गौरव को जगाने, विश्व की पीड़ा मिटाने,
प्रीति का सन्देश लेकर, पूर्व-पश्चिम चारी ।।

'युवजनो, अब उठो जागो, अलसता-अज्ञान त्यागो',
सिंह के सम तरुण-जन को, आवाहन उच्चारी ।।

जीव सब अव्यक्त ईश्वर, और सबमें श्रेष्ठ है नर,
दीनसेवा परम-पूजा, नव्य-धर्म प्रचारी ।।

– २ –

(देशकार या शंकरा–रूपक)

अरुणिमा छाई गगन में,
रवि विवेकोदय हुआ ।
काम-कांचन का अँधेरा,
घोर था अब क्षय हुआ ।।

भोगवाद प्रचण्ड निशिचर,
विचरता था इस अवनि पर;
छिप रहा अब गह्वरों में,
राज्य उसका लय हुआ ।।

जन सभी शंकित भ्रमित थे,
विषय-विष दंशित-व्यथित थे;
फैलती हैं ज्ञान किरणें,
तत्त्व का निश्चय हुआ ।।

डूबते हैं चन्द्र उडुगन,
परम हर्ष विभोर जन-मन;
रात बीती युग नया अब,
जग सजग निर्भय हुआ ।।

– विदेह

सभी धर्मों का समन्वय

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

संसार के लिये यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात होगी, यदि सभी मनुष्य एक ही धर्म, उपासना की एक ही सार्वभौमिक पद्धति और नैतिकता के एक ही आदर्श को स्वीकार कर लें। इससे सभी धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति को मृत्यु-जैसा आघात पहुँचेगा। अत: भले या बुरे उपायों द्वारा दूसरों को अपने धर्म और सत्य के उच्चतम आदर्श पर लाने की चेष्टा करने की जगह, हमें चाहिये कि हम उनकी वे सब बाधाएँ हटा देने का प्रयत्न करें, जो उनके अपने धर्म के उच्चतम आदर्श के अनुसार विकास में बाधा डालती हैं, और इस तरह उन लोगों की चेष्टाएँ विफल कर दें, जो एक सार्वजनीन धर्म की स्थापना के प्रयास में लगे हुए हैं।[४७]

हम लोग सब धर्मों के प्रति, न केवल सहिष्णुता में विश्वास करते हैं, अपितु सभी धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने पृथ्वी के सभी धर्मों और सभी देशों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों को आश्रय दिया है।[४८]

दूसरे धर्म या मत के लिये हमें केवल सहनशीलता नहीं दिखानी है, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से उन्हें स्वीकार करना होगा; और यही सत्य सब धर्मों की नींव है।[४९]

किसी की निन्दा मत करो। यदि सहायता कर सकते हो, तो करो; नहीं कर सकते, तो हाथ-पर-हाथ रखकर चुपचाप बैठे रहो; उन्हें आशीर्वाद दो, अपने रास्ते जाने दो। गाली देने अथवा निन्दा करने से कोई उन्नति नहीं होती। इस प्रकार से कभी कोई कार्य नहीं होता। हम अपनी शक्ति दूसरे की निन्दा करने में लगाते हैं। आलोचना और निन्दा अपनी शक्ति खर्च करने के निरर्थक उपाय हैं, क्योंकि अन्त में हम देखते हैं कि सभी लोग एक ही वस्तु देख रहे हैं, या फिर कमो-बेश उसी आदर्श की ओर पहुँच रहे हैं; और हम लोगों में जो भेद दीख पड़ते हैं, वे केवल अभिव्यक्ति के भेद हैं।[५०]

वस्तुत: धर्ममतों की अनेकता लाभदायक है, क्योंकि वे सभी मनुष्यों को धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा ही देते हैं; और इस कारण सभी अच्छे हैं। जितने ही अधिक धर्म-सम्प्रदाय होंगे, मनुष्य की भगवद्-भावना को सफलतापूर्वक जाग्रत करने के उतने ही अधिक सुयोग मिलेंगे।[५१]

मेरे गुरुदेव का कहना था – धर्म एक ही है; सभी पैगम्बरों की शिक्षा एक ही होती है; पर उस तत्त्व को प्रकट करने हेतु सबको उसे कोई-न-कोई आकार देना पड़ा। इसलिये उन्होंने उसके पुराने आकार को त्यागकर उसे नये आकार में हमारे सामने रखा है।[५२]

सभी धर्मों में समाधि या तुरीयावस्था एक है। देहज्ञान के पार जाने पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, यहाँ तक कि जो लोग किसी प्रकार का धर्ममत स्वीकार नहीं करते, सभी को ठीक एक ही तरह की अनुभूति होती है।[५३]

ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिये; और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिये कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात् करके पुष्टि-लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुये अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार विकसित हो। ...

साधुता, पवित्रता और सेवा किसी सम्प्रदाय-विशेष की सम्पत्ति नहीं है; और प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ तथा अतिशय उन्नत चरित्र के नर-नारियों को जन्म दिया है। इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद भी यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्य सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे और केवल उसी का धर्म जीवित रहेगा, तो मैं अपने हृदय के अन्तस्तल से उस पर दया करता हूँ और उसे स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि सारे प्रतिरोधों के बावजूद, शीघ्र ही प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा होगा – 'संघर्ष नहीं, सहयोग'; 'पर-भाव-विनाश नहीं, पर-भाव-ग्रहण'; 'मतभेद और कलह नहीं, समन्वय और शान्ति' ![५४]

यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म होना है, तो वह किसी देश या काल से सीमाबद्ध नहीं होगा। वह उस असीम ईश्वर के समान असीम होगा, जिसका कि वह उपदेश देता है; जिसका सूर्य कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, सन्तों और पापियों को समान रूप से आलोक-वर्षा करेगा; जो न तो हिन्दू होगा, न बौद्ध, न ईसाई और न इस्लाम, बल्कि इन सबकी समष्टि होगा; और इसके बावजूद जिसमें विकास के लिये अनन्त अवकाश होगा; जो इतना उदार होगा कि पशुओं के स्तर से किंचित् उन्नत निम्नतम घृणित जंगली मनुष्य से

लेकर अपने हृदय और मस्तिष्क के गुणों के कारण मानवता से इतना ऊपर उठ गये उच्चतम मनुष्य तक को, जिसके प्रति सारा समाज श्रद्धानत हो जाता है और लोग जिसके मनुष्य होने में सन्देह करते हैं, उन सबको अपनी अनन्त भुजाओं में समेट सकेगा और सबको स्थान दे सकेगा। वह एक ऐसा धर्म होगा, जिसकी नीति में उत्पीड़न या असहिष्णुता के लिये कोई स्थान न होगा, जो हर स्त्री-पुरुष में दिव्यता को स्वीकार करेगा और जिसका सारी शक्ति तथा सामर्थ्य मानवता को उसकी सच्ची दिव्य प्रकृति का साक्षात्कार करने में सहायता देने में ही केन्द्रित होगा।

आप ऐसा ही धर्म सामने रखिये, और सारे राष्ट्र आपके अनुयायी बन जायेंगे।[५५]

धार्मिक व्यक्ति के लक्षण

धर्म-पथ में अपनी उन्नति का पहला लक्षण यह देखोगे कि तुम दिन-पर-दिन बड़े प्रफुल्ल होते जा रहे हो। यदि कोई व्यक्ति विषादयुक्त दिखे, तो वह अपच के कारण भले ही हो, पर यह धर्म का लक्षण नहीं हो सकता। ... पाप ही दु:खों का कारण है, उसका अन्य कोई कारण नहीं। ... उतरा हुआ चेहरा लेकर बाहर मत जाना! किसी दिन ऐसा होने पर दरवाजा बन्द करके समय बिता देना। संसार में इस बीमारी को संक्रमित करने का तुम्हें क्या अधिकार है?[५६]

सच्चे आध्यात्मिक व्यक्ति सर्वत्र उदार होते हैं। 'उसका' प्रेम उन्हें विवश कर देता है। परन्तु धर्म ही जिनका व्यापार है, वे लोग संसार की स्पर्धा, उसकी लड़ाकू तथा स्वार्थी चाल को धर्म के क्षेत्र में ले आते हैं और इस कारण संकीर्ण तथा धूर्त होने पर विवश हो जाते हैं।[५७]

हम संसार में पाप तथा दुर्बलता क्यों देखते हैं? ... हम स्वयं जैसे हैं, वैसा ही जगत् को भी देखते हैं। मान लो, कमरे में मेज पर सोने की एक थैली रखी है और एक छोटा बच्चा वहाँ खेल रहा है। इतने में एक चोर वहाँ आता है और उस थैली को चुरा लेता है। तो क्या बच्चा यह समझेगा कि चोरी हो गयी? हमारे भीतर जो है, वही हम बाहर भी देखते हैं। बच्चे के मन में चोर नहीं है, अत: वह बाहर भी चोर नहीं देखता। सब प्रकार के ज्ञान के विषय में ऐसा ही है। संसार के पाप तथा दुर्बलताओं की बात मन में न लाओ, बल्कि रोओ कि तुम्हें जगत् में अब भी पाप दिखता है; रोओ कि तुम्हें अब भी सर्वत्र अत्याचार दिखता है; और यदि तुम जगत् का उपकार करना चाहते हो, तो इस पर दोषारोपण करना छोड़ दो। उसे और भी दुर्बल मत करो। आखिर ये सब पाप, दु:ख आदि हैं क्या? ये सब दुर्बलता के ही तो फल हैं। लोग बचपन से ही शिक्षा पाते हैं कि वे दुर्बल हैं, पापी हैं। इस प्रकार की शिक्षा से संसार दिन-पर-दिन और भी दुर्बल होता जा रहा है। उनको सिखाओ कि वे सब उसी अमृत की सन्तान हैं – यहाँ तक कि जिनके भीतर आत्मा का प्रकाश अत्यन्त क्षीण है, उन्हें भी यही शिक्षा दो। बचपन से ही उनके मस्तिष्क में ऐसे विचार प्रविष्ट हो जायँ, जिनसे उनकी यथार्थ सहायता हो सके, जो उनको सबल बना दें, जिनसे उनका कुछ यथार्थ हित हो। दुर्बलता और विषादकारक विचार उनके मस्तिष्क में प्रवेश ही न करें। सत्-चिन्तन के स्रोत में स्वयं को बहा दो; मन-ही-मन सर्वदा कहते रहो, '**सोऽहं सोऽहम्** – मैं ही वह हूँ, मैं ही वह हूँ।' तुम्हारे भी मन में रात-दिन यही स्वर संगीत की भाँति झंकृत होता रहे और मृत्यु के समय भी तुम्हारे अधरों पर – **सोऽहं सोऽहम्** खेलता रहे। यही सत्य है – जगत् की अनन्त शक्ति तुम्हारे भीतर है। ... आओ साहसी बनें; सत्य को जानें और उसे जीवन में परिणत करें। लक्ष्य भले ही बहुत दूर हो; पर उठो, जागो और लक्ष्य को प्राप्त किये बिना रुको मत।[५८]

क्या तुम्हें विश्व-इतिहास में पैगम्बरों की शक्ति के स्रोत का पता चला? बुद्धि में? क्या उनमें से कोई दर्शन-विषयक सुन्दर ग्रन्थ लिखकर छोड़ गया है; या न्याय के कूट तर्कों पर कोई पुस्तक लिख गया है? किसी ने ऐसा नहीं किया। वे केवल थोड़ी-सी बातें कह गये हैं। ईसा की भाँति भावना करो, तुम भी ईसा हो जाओगे; बुद्ध के समान भावना करो, तुम भी बुद्ध बन जाओगे। भावना ही जीवन है, भावना ही बल है, भावना ही तेज है – भावना के बिना, कितनी ही बुद्धि क्यों न लगाओ, ईश्वर-प्राप्ति नहीं होगी।[५९]

साहस दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का साहस है – तोप के मुँह में दौड़ जाना और दूसरे प्रकार का साहस है – आध्यात्मिक विश्वास। एक बार एक दिग्विजयी सम्राट् भारतवर्ष में आया। उसके गुरु ने उसे भारतीय साधुओं से मिलने का आदेश दिया था। बहुत खोज करने के बाद उसने देखा कि एक वृद्ध साधु एक पत्थर पर बैठे हैं। सम्राट् ने उनसे कुछ देर बातचीत की उनके ज्ञान से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने साधु को अपने साथ देश ले जाने की इच्छा व्यक्त की। साधु ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा, "मैं इस वन में बड़े आनन्द से हूँ।" सम्राट् बोला, "मैं सारी पृथ्वी का सम्राट् हूँ; आपको असीम ऐश्वर्य और उच्च पद-मर्यादा दूँगा।" साधु बोले, "ऐश्वर्य, पद-मर्यादा आदि किसी चीज की मुझे इच्छा नहीं है।" तब सम्राट् ने कहा, "यदि आप मेरे साथ नहीं चलेंगे, तो मैं आपको मार डालूँगा।" इस पर साधु शान्तिपूर्वक हँसे और बोले, "राजन्, आज तुमने अपने जीवन में सबसे मूर्खतापूर्ण बात कही है। तुम्हारी क्या हस्ती, जो मुझे मारो? सूर्य मुझे सुखा नहीं सकता, अग्नि मुझे जला नहीं सकती, तलवार मुझे काट नहीं सकती, क्योंकि मैं तो

शेष अगले पृष्ठ पर

नाम की महिमा (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

नाम-साधना का पहला आवश्यक तत्त्व है – विश्वास। ज्ञानदीपक के प्रसंग में विश्वास की बात को दूसरी पद्धति से बताया गया। 'मानस' में ज्ञान, भक्ति और कर्म – तीनों का प्रतिपादन है। तीनों में एक बात सामान्य है। कर्ममार्ग में पुरुषार्थ को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है। ज्ञानमार्ग में भी पुरुषार्थ को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त है। भक्तिमार्ग में भी निष्क्रियता का समर्थन नहीं है। उसमें भी पुरुषार्थ की बात कही गई है। पर रामायण में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया गया है कि कृपा की तीनों में ही आवश्यकता है, भले ही उसकी मात्रा में भेद हो। कर्मयोग के मार्ग में पुरुषार्थ की प्रधानता है, ज्ञानमार्ग में विचार की प्रधानता है और भक्तिमार्ग में भावना की प्रधानता है, परन्तु कृपा की आवश्यकता कर्मयोगी को भी है, ज्ञानयोगी को भी है और भक्तियोगी को भी।

ज्ञान का मार्ग महानतम पुरुषार्थ का मार्ग है। कैसे हम ज्ञान का दीप जलावें। दिया जलाकर कैसे हम अपने अन्त:करण की चिद्-जड़-ग्रन्थि को खोलें। उसमें जो साधनाएँ लिखी हुई हैं, उनमें पुरुषार्थ की पराकष्ठा है। गोस्वामीजी ने ज्ञानदीपक में साधना का जो क्रम बताया गया है, उसमें पहले यही कहा कि सात्त्विक श्रद्धा की गाय ले आइये। फिर उसे आहार – नाना प्रकार के सत्कर्म का चारा खिलाइये। इसके बाद कहा गया कि कैसे गाय का दूध प्राप्त करें, फिर कैसे दूध का दही बनायें, कैसे मक्खन निकालें और कैसे उससे घी बनायें।

बड़ी कठिन साधना है। परन्तु इस ज्ञानदीपक-प्रसंग का श्रीगणेश गोस्वामीजी कहाँ से करते हैं? साधना का प्रारम्भ सात्त्विक श्रद्धा से होना चाहिये, पर श्रद्धा कहाँ से आयेगी? इस प्रसंग में पहला वाक्य यही है – यह सात्त्विक श्रद्धा भी व्यक्ति को भगवान की कृपा से ही प्राप्त होगी –

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।
जौं हरिकृपाँ हृदयँ बस आई ।। ७/११७/९

यह श्रद्धा पुरुषार्थ से प्राप्त होनेवाली चीज नहीं है। इसके बाद क्रम बताया गया। किसी भी साधन के लिये, विचार के लिये सबसे पहले हमारे अन्त:करण में श्रद्धा रूपी गाय की आवश्यकता है। इसके बाद दूसरा सूत्र दिया गया कि यदि गाय ही न हो, तो फिर दूध-दही तथा घी का प्रश्न ही कहाँ उठता है? अब यदि हमारे पास बहुत मूल्यवान गाय है और हम उसे लाकर बाँध दें, परन्तु उसे चारा न खिलावें, तो क्या वह दूध देगी? – नहीं देगी। वैसे ही यदि अन्त:करण में खूब श्रद्धा हो, सन्तों में श्रद्धा के साथ साधना का श्रीगणेश हुआ, पर उसके बाद यदि हम सन्त के द्वारा दिये गये साधना के उपदेश को क्रियान्वित न करें, तो मानो हमने गाय को चारा नहीं खिलाया। इसलिये सूत्र दिया गया – सत्कर्मरहित श्रद्धा और श्रद्धारहित सत्कर्म – दोनों अपूर्ण हैं।

चारा हो और गाय न हो, तो भी कुछ नहीं बननेवाला है। दूध तो चारे से ही बनता है। लेकिन दूध और चारे में कितना अन्तर है? कोई आपके घर में आयें और आप उन्हें दूध का गिलास दे दीजिये, तो उनको सम्मान का अनुभव होगा। पर

पिछले पृष्ठ का शेषांश

जन्मरहित, अविनाशी, नित्य-विद्यमान, सर्वव्यापी, सर्व-शक्तिमान आत्मा हूँ।'' यह आध्यात्मिक साहस है और दूसरा है सिंह या बाघ का साहस। १८५७ ई. के गदर के समय एक मुसलमान सिपाही ने एक संन्यासी महात्मा को बुरी तरह घायल कर दिया था। हिन्दू विद्रोहियों ने उस मुसलमान को पकड़ लिया और महात्मा के पास लाकर कहा, ''आप कहें, तो हम इसका वध कर दें।'' महात्मा ने शान्तिपूर्वक उसकी ओर देखा और कहा, ''भाई, तुम वही हो, तुम वही हो – **तत्त्वमसि**।'' और यह कहते-कहते उन्होंने शरीर छोड़ दिया। यही साहस का दूसरा उदाहरण हैं।[६०]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

४७. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ३, पृ. १६९; **४८.** वही, खण्ड १, पृ. ३; **४९.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३; ५०. वही, खण्ड ८, पृ. ११; **५१.** वही, खण्ड ३, पृ. १७०; **५२.** वही, खण्ड ७, पृ. २५; **५३.** वही, खण्ड ७, पृ. ५३; **५४.** वही, खण्ड १, पृ. २७; **५५.** वही, खण्ड १, पृ. २०-२१; **५६.** खण्ड १, पृ. १८०; **५७.** वही, खण्ड ३, पृ. ३४७; **५८.** वही, खण्ड २, पृ. १९-२०; **५९.** वही, खण्ड ८, पृ. १८; **६०.** वही, खण्ड २, पृ. १७

यदि बुद्धिमानी से यह गणित करके कि चारे से ही तो दूध बनता है, अतिथि के सामने चारा ही परोस दें, तो वह बिगड़ खड़ा होगा कि क्या तुम मुझे पशु समझते हो? तो याद रहे – सत्कर्म चारा और श्रद्धा गाय है। श्रद्धारहित सत्कर्म कल्याण की सृष्टि नहीं करेगा, बल्कि व्यक्ति को अहंकारी बनाकर उसे पतन के गर्त में ले जायेगा। दूसरी ओर श्रद्धा चाहे जितनी भी क्यों न हो, व्यक्ति अगर गुरु तथा सन्त द्वारा दी गयी साधना को जीवन में क्रियान्वित नहीं करेगा, तो उसने गाय को चारा नहीं खिलाया।

साधना का क्रम है – हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि वे कृपा करके हमारे अन्तःकरण में सच्ची श्रद्धा दें। सच्ची श्रद्धा लेकर हम सन्त या गुरु से साधना का उपदेश प्राप्त करें और तदुपरान्त उसे अपने जीवन में क्रियान्वित करें –

जप तप ब्रत यम नियम अपारा।
जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई।। ७/११७/१०-१

चारे में भी एक शर्त लगा दी – वह सूखा नहीं, बल्कि हरा हो। हरे चारे में तो झंझट है, रोज हरा चारा काट कर लाइये और गाय को खिलाइये। हम लोग तो सुविधावादी है, जो भी रूखा-सूखा मिल जाय, उसी को खिला देना चाहते हैं। घर की गाय को भले ही आप सूखे चारे से तृप्त कर दीजिये, लेकिन साधना के चारे को यदि आपने सुखाकर रख दिया, यानी एक ही दिन में पूरे महीने भर के लिये पचास माला जप कर दिया। ऐसा नहीं चलेगा। नित्य हरा हरा चारा लाइये। तात्पर्य यह कि साधना में नित नूतनता बनी रहे।

इसके बाद भी यदि बछड़ा न हो, तो आप गाय के सामने खड़े हैं, पर दूध आपको नहीं मिलेगा। तो बछड़ा भी लाना पड़ेगा। बछड़ा कौन है? – भाव-वत्स – हमारा जो भाव है, वही बछड़ा है। इसमें एक संकेत है। भक्तिमार्ग में विचार का फल भाव है और ज्ञानमार्ग में भाव का फल विचार है। ज्ञानमार्ग में ज्ञानी भावुक नहीं होगा, तो काम चल जायेगा। दोनों में भाव का सामंजस्य अपेक्षित है। श्रद्धा और सत्कर्म दोनों होते हुए भी यदि हमारे अन्तःकरण में भावना नहीं होगी, तो उसके अभाव में यह श्रद्धा की गाय दूध नहीं देगी। श्रद्धा और सत्कर्म का परिणाम तब तक नहीं होगा, जब तक हम अपनी भावना को उसमें नहीं जोड़ेंगे।

इसके बाद गोस्वामीजी ने फिर विश्वास की बात कही। आपने गाय बहुत बढ़िया लेकर बाँध दी। गाय को खूब चारा खिलाया और बछड़ा भी सामने कर दिया। यह भी हो सकता है कि बछड़े को पूरी तरह खोल दीजिये तो वही सारा दूध पी जाय। भक्ति में तो भावना को बढ़ने देने में विश्वास करते हैं। पर ज्ञानमार्ग में भावना को उसी सीमा तक ले जाना हैं, जहाँ तक वह विचार में सहायक बने। जैसे हम गाय के सामने बछड़ा ले जाते हैं, तो दूध पाने के लिये हम बछड़े को सामने करते हैं। बछड़ा थोड़ा दूध पीता है, उसके बाद गाय का सारा दूध लेकर हम स्वयं उपयोग करते हैं। इस प्रकार ज्ञानमार्ग भावना-प्रधान मार्ग नहीं है, तथापि उसमें भी भावना की अपेक्षा है। उसमें हम जब भाव-बछड़े को सक्रिय करते हैं, तो उसके परिणाम-स्वरूप गाय पेन्हा जाती है, तब हम उससे दूध ले लेते हैं।

अगला संकेत यह है कि यदि गाय के स्तनों में दूध आ जाय और हम उसके पास बैठकर दूहने लगें, परन्तु हमारे पास कोई बर्तन न हो, तो इतने प्रयत्न से उत्पन्न किया हुआ दूध भी मिट्टी में मिल जायेगा। गोस्वामीजी ने कहा – केवल यह श्रद्धा, सत्कर्म तथा भावना ही नहीं; बल्कि उसके साथ ही बर्तन भी अवश्य होना चाहिये। बर्तन जितना बड़ा होगा, उसमें दूध भी उतना ही आयेगा। सूत्र दिया गया – विश्वास का बर्तन लेकर उसमें हम धर्म का दूध प्राप्त करें। यहाँ विश्वास की तुलना पात्र से की गई –

नोई निबृत्ति पात्र बिस्वासा।। ७/११७/१२

श्रद्धा, सत्कर्म तथा भावना के बाद भी हम अपने जीवन में उतना ही दूध प्राप्त करेंगे, जितना बड़ा विश्वास का पात्र हमारे पास होगा। अधिकांश व्यक्तियों के समान यदि हमारा विश्वास छिद्रयुक्त है, दोषयुक्त है, तो दूध एक ओर मिलेगा और दूसरी ओर से बहता जायेगा। एक ओर व्यक्ति विश्वास करेगा और दूसरी ओर उसका विश्वास शिथिल भी होता जायेगा। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि ज्ञानमार्ग के साधक का भी बिना विश्वास के काम नहीं चलेगा और भक्तिमार्ग में तो विश्वास ही सब कुछ है –

बिनु बिस्वास भगति नहिं,
तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।। ७/९०

कर्ममार्ग में भी कर्म में भी सफलता प्राप्त करने के लिये सूत्र दिया गया – कर्म की सिद्धि भी विश्वास में है –

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।। ७/९०/८

जब आप किसी कर्म में प्रवृत्ति होते हैं, तब आपके मन में पहले से ही विश्वास की वृत्ति न हो, तो आप कभी भी उस कर्म में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते।

हम नाम का जप तो करते हैं, पर प्रह्लाद जैसी दो बातें हमारे जीवन में नहीं है – एक तो है विश्वास और दूसरा प्रेम। प्रह्लाद के जीवन में अटूट विश्वास है। इतनी प्रतिकूलता के होते हुए भी प्रह्लाद ने उसे प्रभु की कृपा की दृष्टि से देखा। भक्त को कठिनाइयों में डालकर प्रभु वस्तुतः भक्त की महिमा को बढ़ाने के लिये व्यग्र हो जाते हैं। सन्तों, भक्तों या महापुरुषों के जीवन में जब ईश्वर प्रतिकूलता की सृष्टि करते हैं, तो कृपा की कसौटी यह है कि प्रतिकूलता आने के बाद यदि हमारा पतन हो जाता है, तो वह प्रतिकूलता हमारे कर्म

का परिणाम है। पर **प्रतिकूलता आने के बाद भी यदि हमारे अन्त:करण में ईश्वर के लिये प्रीति बढ़ती जाती है, तो वह दुख तथा प्रतिकूलता ईश्वर की भेजी हुई है।** प्रह्लाद अपने प्रारम्भिक जीवन में अनेक वर्षों तक ऐसे ही असीम कष्ट झेलते रहे, परन्तु उनकी ईश्वर-प्रीति में कोई कमी नहीं आई।

तो कलियुग हिरण्यकशिपु है और नाम जपनेवाला प्रह्लाद। प्रह्लाद के जीवन में दो चीजें होनी चाहिये – एक तो अचल विश्वास और उतना ही उत्कृष्ट प्रेम। यहाँ एक सूत्र है – बिना प्रेम के विश्वास कभी नहीं टिकता। यदि हम किसी घटना से जोड़कर विश्वास करेंगे कि हमने हनुमानजी से मनौती मानी, परीक्षा में पास हो गये, तो बड़ा विश्वास है। वे पास भी कर देते हैं। परन्तु वह विश्वास बिल्कुल टिकनेवाला नहीं है।

प्रेमी के विश्वास की विशेषता क्या है? प्रेम का अर्थ क्या है? जहाँ क्रिया देखकर व्यवहार का निर्णय किया जाय, वह व्यवहार है; और जहाँ पर मान करके क्रिया की व्याख्या की जाय, वहाँ प्रेम है। इन दोनों में अन्तर है। हमारा नियम यह है कि हम दूसरे का व्यवहार देखकर मानते हैं कि वह अच्छा है या बुरा। पर प्रेम की प्रकृति यह है कि प्रिय के हर कार्य में गुण दिखाई देना, यह प्रेम के बिना सम्भव ही नहीं है।

सुमित्राजी और कैकेयीजी में यही अन्तर है। लोग यही समझते थे कि कैकेयीजी राम से बहुत प्रेम करती हैं और सुमित्राजी का प्रेम उतना प्रसिद्ध नहीं था, लेकिन बात उल्टी क्यों हो गई? कैकेयीजी क्रिया हैं और सुमित्राजी भावना हैं। क्रिया की जो दुर्बलता है, वही कैकेयीजी के जीवन में है। और भावना की जो विशेषता है, वही सुमित्राजी में है। क्रिया की क्या दुर्बलता है? वे मन्थरा से कहती हैं कि राम तो मुझे भरत से भी अधिक प्रिय है। जब मन्थरा ने कैकेयीजी से पूछा – आप राम को इतना क्यों चाहती हैं, राम तो आपके बेटे नहीं हैं? कैकेयीजी ने कहा – राम अन्य माताओं को बराबर चाहते हैं, परन्तु मुझे अन्यों से अधिक चाहते हैं –

कौसल्या सम सब महतारी।
रामहि सहज सुभायँ पिआरी।।
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी।। २/१५/५-६

पहली कमी समझ में आ गई। यदि कोई व्यक्ति यह मान कर प्रेम की व्याख्या करे कि दूसरे को कितना सम्मान दिया गया और मुझे कितना सम्मान दिया गया; फिर उसी के आधार पर यह निर्णय करे कि जिसको सम्मान दिया गया, उसके प्रति बहुत प्रेम है और जिसको सम्मान नहीं दिया गया, उसके प्रति कम है, तो इससे बढ़कर अनर्थ कुछ हो ही नहीं सकता। भगवान राम कैकैयीजी को इतना महत्त्व देते हैं और कैकेयीजी की दुर्बलता सामने आ गई। मन्थरा ने पूछा – आपको कैसे पता चला कि राम आपसे बहुत प्रेम करते हैं? उन्होंने तत्काल कहा – मैंने प्रेम की परीक्षा लेकर देखा है –

मैं करि प्रीति परीच्छा देखी।। २/१५/६

प्रेम की परीक्षा उन्होंने कैसे ली होगी? श्रीराम कौशल्या अम्बा की गोद में जा रहे थे; अचानक कैकेयीजी ने पुकार कर कहा – तुम मेरी गोद में आओ। श्रीराम कैकेयीजी की गोद में चले गये। इससे कैकेयीजी ने निर्णय कर लिया कि राम अपनी माँ को कम चाहते हैं, मुझे अधिक चाहते हैं। मेरे कहने के बाद मेरी गोद में आये, माँ की गोद में नहीं गये। इसका अर्थ यह हुआ कि मुझे अधिक चाहते हैं।

भगवान राम जब वन जाने लगे, तो कैकेयीजी से दो बार मिले। कौशल्याजी से एक बार मिले। और सुमित्राजी से तो मिले ही नहीं। भगवान राम किसको अधिक चाहते हैं? प्रेम को कैकेयीजी ने क्रिया से जोड़ लिया। श्रीराम कैकेयीजी को अत्यधिक महत्त्व अवश्य देते थे। पर गोस्वामीजी ने व्यंग्य किया कि बहुत महत्त्व देने का अर्थ केवल श्रेष्ठता नहीं है। हम अपने शरीर के सब अंगों का ध्यान रखते हैं और कहीं फोड़ा हो जाय और फोड़े का हम सबसे अधिक ध्यान रखें, तो क्या हम यही कहेंगे कि कि फोड़ा हमें सबसे अधिक प्रिय है, इसीलिये हम उसका इतना ध्यान रखते हैं? गोस्वामीजी ने गीतावली रामायण में यही दृष्टान्त दिया –

नात मातु को मन जुगवत ज्यों,
निज तन मरम कुठाउँ।

भगवान श्रीराम जानते हैं, क्रिया-परायण व्यक्ति का यही लक्षण है कि फोड़ा जरा भी छू जाय, तो दर्द बढ़ जाता है। अधिकांश व्यक्ति क्रिया-परायण होते हैं और उन्हें इतना जल्दी दर्द हो जाता है कि उनसे व्यवहार करते समय बड़ी सावधानी की जरूरत है कि कहीं बुरा न मान जायँ। इतनी चिन्ता करनी पड़े कि कहीं ये बुरा न मान जायँ, तब तो यह व्यवहार ही हुआ, प्रेम नहीं हुआ। प्रेम की पराकाष्ठा तो उल्टी है। कैकेयीजी से दो बार मिले कि माँ को कहीं यह न लगने लगे कि मैं उनके व्यवहार से किसी प्रकार से रुष्ट हो गया हूँ। बड़ा महत्त्व देते हुए दिखाई दे रहे हैं। कैकेयीजी ने क्रिया के आधार पर प्रेम की व्याख्या की, क्योंकि वे स्वयं क्रिया थीं। मन्थरा ने तत्काल बात को बदल दिया। बोली – पहले ऐसे थे, पर अब नहीं हैं। कैकेयीजी ने कहा – ठीक है, यदि वे वैसे नहीं हैं, तो मैं भी वैसी नहीं हूँ। यही क्रिया -शास्त्र का प्रयोग है। संसार में आप हमसे अच्छा व्यवहार कीजिये, तो हम भी अच्छे हैं। आपके व्यवहार में कोई परिवर्तन आया, या परिवर्तन का भ्रम हो गया, तो चलिये, हम भी बदल गये। यह है कैकेयीजी की त्रुटि और दूसरी ओर सुमित्रा अम्बा भावना हैं; और भावना का अर्थ है कि जो भी हो, हम उसमें आनन्द लें, रस लें। श्रीराम सुमित्रा अम्बा से मिलने नहीं आये। कोई कह सकता है कि बिल्कुल भी महत्त्व नहीं दिया, नहीं तो मिलकर जाते। जब राम सुमित्रा

अम्बा के सामने नहीं आये, तो उनकी आँखों में आँसू आ गये, कहने लगीं – राम इतने संकोची हैं कि वे संकोच के कारण नहीं आये। वे मुझसे कितना स्नेह करते हैं कि उन्हें यह लगा होगा कि लक्ष्मण को कैसे माँगूँ ! इसी संकोच के कारण राम सामने नहीं आये। पहले मन में मान लिया कि प्रेम है और तब क्रिया की व्याख्या की जाती है। यदि क्रिया को देखकर प्रेम की व्याख्या की जायेगी, तो प्रेम कभी टिक नहीं सकता। विश्वास जब भी स्थिर होगा, तो केवल प्रेम के आधार पर होगा, क्रिया के आधार पर नहीं।

नाम-जप के भी ये ही दो सूत्र हैं। एक तो यह कि राम-नाम जपते हुए हमारे अन्तःकरण में विश्वास है या नहीं? और विश्वास तब टिकेगा जब वह प्रेम पर आधारित होगा।

मारीच का प्रसंग देखें। मारीच रामायण का एक ऐसा पात्र है, जो साधारणतया संसार में छल-कपट का प्रतीक माना जाता है। संसार में यदि छल-कपट के सन्दर्भ में किसी व्यक्ति की अगर निन्दा करनी है, तो कहते हैं – यह तो पूरा माया-मारीच है। पर बड़ी विचित्र बात है, जिसे हम छल और कपट का प्रतीक मानते हैं, गोस्वामीजी उसका वर्णन प्रेमी के रूप में करते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं – भगवान ने मारीच के अन्तर के प्रेम को पहचान लिया और उसे वह गति प्रदान की, जो मुनियों के लिये भी दुर्लभ है –

अंतर प्रेम तासु पहिचाना ।
मुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना ।। ३/२७/१७

मारीच के प्रेमी होने का क्या अभिप्राय है? गोस्वामीजी उसे प्रेमी क्यों कहते हैं? भगवान राम ने विभीषणजी को राज्य दिया और यदि उनके मन में भगवान के प्रति विश्वास हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। लेकिन मारीच की धन्यता तो यह है कि जब वह भगवान की ओर जा रहा है, तब उसे पता है कि भगवान मेरा वध करेंगे, मेरी मृत्यु होगी, पर प्रभु के प्रहार में भी जिसको प्रेम दिखाई दे रहा है, उसके प्रेम की कल्पना और व्याख्या कैसे होगी ! यदि मारीच क्रिया देखकर निर्णय करनेवाला होता, तो यही सोचता कि राम मेरे शत्रु हैं, मुझे मारेंगे। पर गोस्वामीजी कहते हैं – आज मेरे नेत्र परम प्रीतम प्रभु का दर्शन करके धन्य हो जायेंगे –

मन अति हरष जनाव न तेही ।
आजु देखिहउँ परम सनेही ।। ३/२६/८
निज परम प्रीतम देखि, लोचन
सुफल करि सुख पाइहौं ।। ३/२६/छं.

किसी ने मारीच से कहा – "तुम भगवान को अपना प्रीतम बताते हो। अरे, श्रीराम से तो तुम्हारी दो बार भेंट हुई और दोनों बार उनका व्यवहार तुम्हारे प्रति बड़ा कठोर था। पहली बार जब तुम विश्वामित्र के यज्ञ में मिले तो उन्होंने बाण चलाकर दूर फेंक दिया, लंका के पास आकर गिरे। पास बुलाना तो प्रेम हो सकता है, पर दूर फेंक देना तो प्रेम नहीं है।" इस पर मारीच ने जो कुछ कहा, कृपया उसके भाव पर दृष्टि डालें। मारीच ने कहा – "यह तो आपको लगता है कि उन्होंने दूर फेंक दिया, पर सच तो यह है कि जब मैं उनके पास था, तब उनसे दूर था और जब वे मुझे दूर फेंकते दिखाई दिये, तो उन्होंने दूर नहीं फेंका, पास बुला लिया।

मारीच जब विश्वामित्र के यज्ञ में गया, तब तो वह विरोधी वृत्ति लेकर गया था, श्रीराम के प्रति विद्वेष लेकर गया था, परन्तु जब उसे भगवान राम का बाण लगा और वह समुद्र के किनारे जाकर गिरा, तो उसे बड़ा विचित्र अनुभव हुआ।

मारीच व्यक्ति के मन का प्रतीक है। मन और शरीर की प्रकृति में भिन्नता है। शरीर की दृष्टि से, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास बैठा है तो पास है; परन्तु मन की दृष्टि से यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ शरीर बैठा हुआ है, वहीं पर मन भी बैठा हो। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा होता है कि शरीर कहीं बैठा है और मन कहीं और है। मारीच के सन्दर्भ में भी यही हुआ। भगवान ने मारीच को दूर फेंका या पास बुलाया? बाह्य व्यवहार को देखें, तो दूर फेंक दिया, पर आन्तरिक दृष्टि से व्याख्या करें, तो उन्होंने मारीच को पास बुला लिया। मारीच ने रावण को अपना अनुभव सुनाया – जब उन्होंने मुझे बाण मारा, तो जानते हो मेरी क्या स्थिति हुई? पहले तो मैं पास रहकर भी उनको नहीं देख पा रहा था, पर इतना अच्छा बाण मारा कि लोगों को तो लगा कि दूर फेंक रहे हैं, लेकिन मेरी स्थिति ऐसी हो गई कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में श्रीराम-ही-श्रीराम और लक्ष्मण-ही-लक्ष्मण दिखाई देने लगे –

भइ मम कीट भृंग की नाई ।
जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ।। ३/२५/७

मारीच दूरी में सामीप्य और प्रेम का अनुभव करने लगा। और आज जब मारीच जा रहा है और उसे निश्चित मालूम है कि मुझ पर बाण का प्रहार होगा, तो प्रेमी की जो व्याख्या है वह यह है – आज मेरे नेत्र परम प्रीतम प्रभु का दर्शन करके धन्य हो जायेंगे। किसी ने पूछा – कैसे प्रीतम हैं वे, जो तुम्हें मारने जा रहे हैं। मारीच बोला – नहीं भाई, मारने नहीं जा रहे हैं, दूरी मिटाने जा रहे हैं। कैसे?

मारीच पहले तो भगवान के सामने आया और फिर दूर भागा। भगवान उसके पीछे-पीछे दौड़े। मारीच ने कहा – अब इससे बढ़कर प्रेम क्या होगा कि कहाँ तो मैं मन को भगवान के पीछे दौड़ाता, उसके स्थान पर भगवान ही मन के पीछे भागे। यह एक दृष्टि ही तो है। मारीच जब प्रभु के पास आया और फिर भागने लगा, तो भगवान उसके पीछे दौड़े। किसी ने भगवान से पूछा – महाराज, यदि कोई व्यक्ति आपके पास नहीं रुकना चाहता, नहीं रहना चाहता, आपसे दूर भागना चाहता है, तो आप उसके पीछे क्यों भाग रहे हैं?

प्रभु बोले – इतना सुन्दर जो मन है कि जो मृत्यु में भी कृपा देख रहा है, इसके पीछे न भागूँ, तो किसके पीछे भागूँ? मारीच ने कह दिया है – मैं तो एकाग्र होकर आपके चरणों में मन नहीं लगा सकता, आप ही जरा चंचल होकर मेरे पीछे दौड़कर मुझे अपने आपमें मिला लीजिये। उपनिषदों में धनुष और बाण की कल्पना करके कहा गया है – ॐकार ही मानो धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है –

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा
ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।। मुण्डक., २/२/४

यह उपनिषद् का मंत्र है। और आज क्या दृश्य दीख रहा है? भगवान राम के हाथ में धनुष और बाण हैं। विचित्रता यह है कि जीव लक्ष्य है और ब्रह्म ही उसे अपने आपमें मिलाने के लिये बैचेन है। ब्रह्म पीछे-पीछे भाग रहा है। भगवान कितनी एकाग्रता से मारीच के पीछे दौड़ रहे हैं। बोले – मुझे लगता है कि यह सच्चा प्रेमी है और यदि हम ऐसे प्रेमी के पीछे दौड़कर इसको अपने में मिला नहीं लेंगे, तो दूरी बनी रह जायेगी। इसके बाद भगवान ने सचमुच ही बाण चलाकर मारीच को अपने आप में एकाकार कर लिया, विलीन कर लिया। **प्रेम ही व्यक्ति को वह विश्वास देता है, जिसके फलस्वरूप उसे प्रत्येक क्रिया में – जीवन और मृत्यु में, अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में – सर्वत्र भगवान दिखाई देता है।** और इसी विश्वास और प्रेम के फलस्वरूप प्रह्लाद के जीवन में भगवान आखिरकार खम्भे से प्रकट हुए।

वर्णमाला ही मानो खम्भा है और 'रा' तथा 'म' – ये दो अक्षर ही नृसिंह भगवान हैं। हिरण्यकशिपु ने वरदान माँग लिया था कि न बाहर मरें न भीतर, न मनुष्य से न पशु से। तो भगवान ने अनोखा खेल किया। ये 'रा' और 'म', अक्षर किस वर्ग का है? 'रा' अक्षर य-वर्ग का है और 'म' प-वर्ग का। आधा नर और आधा सिंह। अब हिरण्यकशिपु को मारे तो कैसे मारें? क्योंकि यह न तो भीतर मरेगा, न बाहर। तो वे बाहर और भीतर के स्थान पर, भवन के द्वार की देहरी पर बैठ गये। अब देहरी को भीतर कहेंगे या बाहर? तो देहरी पर बैठने के बाद भगवान नृसिंह ने हिरण्यकशिपु को पकड़कर खींच लिया और उसका वध कर दिया।

गोस्वामीजी ने कहा – अन्य जितने साधन हैं, वे या तो भीतरी है, या बाहरी। तो बुराई कैसे मिटेगी – अन्तर्मुखता के साधन के द्वारा या बहिर्मुखता के साधन के द्वारा? कर्म के लिये बहिर्मुखता चाहिये और उपासना या विचार के लिये अन्तर्मुखता चाहिये। परन्तु यह कलियुग तो वरदान माँग चुका है कि न बाहर मरूँगा और न भीतर। तो कैसे मरेगा? बोले – देहरी पर बैठकर मरेगा। गोस्वामीजी ने कहा – यदि बाहरी साधना करेंगे, तो सम्भव है कि अन्तर्मुखता बिल्कुल नष्ट हो जाय और बहिर्मुखता ही प्रमुख हो जाय। दूसरी ओर यदि आप अपने अन्तर्हृदय में प्रवेश कर लेंगे, तो आप स्वयं भले ही आनन्द पा लें, परन्तु बाहर समाज में दुःख और पीड़ा फैली हुई है, उनकी समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा।

गोस्वामीजी बोले – मैं एक बढ़िया उपाय बताता हूँ। ये जितने साधन हैं, ये या तो भीतर हैं या बाहर। हृदय और बाहर। नेत्र मूँदकर देखें तो भीतर और नेत्रों से देखें तो बाहर। परन्तु एक साधन ऐसा है, जो बिल्कुल देहरी है। वे देहरी की तुलना किससे करते हैं? संस्कृत में 'देहरी-दीपक न्याय' कहा जाता है। दीपक को भीतर रखें, तो बाहर अँधेरा रहेगा और बाहर रखें, तो भीतर अँधेरा होगा। तो फिर क्या करें? किसी बुद्धिमान ने कहा – दीपक को देहरी पर रख दो, भीतर भी उजाला रहेगा और बाहर भी उजाला रहेगा। तो आइये, हम लोग भी यह जो 'राम-नाम' रूपी नृसिंह भगवान हैं, इन्हें जिह्वा की देहरी पर बैठा दें और कहें कि महाराज, आप इस कलियुग रूपी हिरण्यकशिपु को मिटा दीजिये।

रामनाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार ।
तुलसी भीतर बहिरहुँ जौं चाहसि उजिआर ।। १/२१

– तुलसीदास कहते हैं कि यदि तू बाहर और भीतर, दोनों तरफ उजाला चाहता है, तो मुखद्वार की जिह्वा रूपी देहरी पर रामनाम रूपी मणिदीप की स्थापना कर।

राम-नाम की साधना अन्तर्मुखी साधना भी है और बहिर्मुखी साधना भी। जब हम विश्वास और प्रेम के साथ इस नाम को जिह्वा की देहरी पर स्थापित करते हैं, तो हमारे अन्तर्जीवन के हिरण्यकशिपु की बुराइयों का विनाश हो जाता है। इस प्रकार भगवान का नाम नृसिंह के रूप में कैसे युग की विभीषिका को मिटाता है, इस ओर संकेत किया गया। आगे नाम के अन्य रूपों पर भी चर्चा की जायेगी।

❖ (क्रमशः) ❖

दुःख-नाश कैसे हो?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमारा जीवन सुख और दुःख से भरा हुआ है। संसार जब तक अस्तित्व में है, तब तक सुख और दुःख दोनों बने रहेंगे। वे मानो एक सिक्के के दो पहलू हैं। ऐसी अवस्था जीवन में कभी नहीं आयेगी, जब केवल सुख ही सुख रहे और दुःख बिलकुल मिट जाय। तब फिर दुःखों के नाश का क्या तात्पर्य है। हमारे धर्मशास्त्र यह बताते हैं कि जिस प्रकार सुख और दुःख मन की अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार दुःख की निवृत्ति भी मन की ही अवस्था है। मन की यह अवस्था अभ्यास से ही प्राप्त की जाती है। श्री रामकृष्ण परमहंस इसका एक सुन्दर उपाय बताते हैं। वे कहते हैं कि संसार में बड़े घर की दासी के समान रहो। यही दुःख-नाश का एकमात्र उपाय है। बड़े घर की दासी बाबू का सारा कामकाज करती है। बाबू के बच्चों को नहलाती है, सँवारती है, भोजन कराती है, घुमाने ले जाती है, 'मेरा राजा बेटा' कहकर दुलार करती है। यदि बाबू का बच्चा कहीं गिर पड़े, तो दासी 'मेरा लल्ला', 'मेरा मुन्ना' कहती हुई दौड़ पड़ती है, बच्चे को उठा लेती है, उसे पुचकारती और प्यार करती है। पर वह अपने मन में यह खूब जानती है कि वह उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा नहीं है। वह यह खूब जानती है कि उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा झोपड़ी में पड़ा रो रहा होगा। दासी यह अच्छी तरह से जानती है कि बाबू जिस दिन नोटिस दे देंगे, उस दिन से वह घर की दहलीज पर भी पैर न रख सकेगी। वह जिसे आज 'मेरा लल्ला, मेरा मुन्ना, मेरा राजा बेटा' कहकर गोद में उठाती है, उसे तब छू भी न सकेगी। तो क्या अपने बाबू के बच्चे के प्रति दासी यह जो प्रेम प्रदर्शित करती है, वह सब दिखावा है? नहीं, वह दिखावा नहीं है। दासी सचमुच बच्चे को प्यार करती है। पर उस प्यार में आसक्ति नहीं है।

आसक्ति न होने का कारण यह है कि उसमें बच्चे के प्रति मेरापन नहीं है, ममत्व नहीं है। ममत्व, मेरापन या आसक्ति के बिना भी प्रेम सम्भव होता है, और यही यथार्थ प्रेम है। आसक्ति-विरहित ऐसा प्रेम हमें दुःख से ऊपर उठाने की शक्ति रखता है।

इसीलिए श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि बड़े घर की दासी की तरह रहो। घर-गृहस्थी है, स्त्री-पुत्र-कलत्र हैं - कोई दोष नहीं। सोचो कि वे सब भगवान् के दिये हुए हैं, अतएव भगवान् के हैं। सबको अपना कहो, प्रेम दिखाओ सबके प्रति। पत्नी को 'मेरी प्रिये' कहो, पति को 'मेरे प्रियतम' कहो, बच्चों को 'मेरे लाल', 'मेरी मुन्नी' कहो - कोई दोष नहीं, पर हृदय के अन्तरतम प्रदेश से यह जानो कि वास्तव में इनमें मेरा कोई भी नहीं है। ये सब भगवान् के हैं। जिस दिन भगवान् का नोटिस आ जायेगा, कोई मेरा न रह जायेगा। सब मुझे छोड़कर चले जायेंगे या मैं ही सबको छोड़कर चला जाऊँगा। वास्तव में यदि कोई मेरा अपना है, तो वे हैं ईश्वर। यदि कोई मेरी झोपड़ी है, तो वह है प्रभु के चरण। यह ज्ञानदीप भीतर जलाये रखो। यही संसार में रहने का रहस्य है। इसी ज्ञान से दुःख की निवृत्ति होती है। यही बड़े घर की दासी के समान संसार में रहना है। मन पर इस विचारधारा का बार बार संस्कार डालना ही अभ्यास कहलाता है।

जब यह अभ्यास सध जाता है, तब सब कुछ ईश्वरमय हो जाता है। किसी प्रियजन की मृत्यु हो गयी - वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि किसी कार्य में सफलता मिली तो वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि कोई कार्य न सधा तो वह भी भगवान् की इच्छा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐसा साधक निश्चेष्ट हो जाय, आलसी हो जाय, अकर्मण्य होकर कहने लगे कि प्रयत्न से क्या होगा, सब कुछ तो ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि साधक क्रियाशील बने, प्रबल कर्मपरायण हो। यदि कोई मृत्यु की शैय्या पर पड़ा हो, तो उसे बचाने के लिए वह अथक प्रयत्न करे और अगर बचा न सके तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। कार्य की सिद्धि के लिए जी-तोड़ परिश्रम करे, पर यदि सफलकाम न हो तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। यही रसायन है, जो दुःख पर मरहम का कार्य करता है। हम अपना सारा उत्तरदायित्व ईश्वर को सौंप देते हैं। इसीलिए हमें दुःख नहीं व्यापता। मुनीम साहूकार के व्यापार को चमकाने की अथक चेष्टा करता है। यदि साहूकार को घाटा हो गया तो मुनीम दुखित अवश्य होता है, पर घाटे का दुःख उसे व्याप्त नहीं कर पाता, क्योंकि घाटा या लाभ उसका नहीं है। वह तो साहूकार का है। उसी प्रकार, संसार मेरा नहीं है, ईश्वर का है : परिवार मेरा नहीं है, ईश्वर का है : मैं तो एक मुनीम हूँ, भृत्य हूँ। यह भक्तियोगी की, कर्मयोगी की भाषा है। मन की इसी अवस्था में दुःखों का नाश सम्भव है। ❑

आत्माराम के संस्मरण (१४)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

नर्मदा तट पर – मर्दानपुर

कुछ दिन बड़े शान्तिपूर्वक बीते। संन्यासी को खूब आनन्द आ रहा था। तभी एक दिन लोगों की एक टोली आ पहुँची। वे लोग अपने दु:ख की कहानी सुनाने लगे। पिछले तीन वर्षों से सूखा पड़ा हुआ था और सूखे के कारण धान पके नहीं। अभाव के कारण वे लोग करीब-करीब सब कुछ खो चुके थे। उसके ऊपर राज्य का आदेश आया है कि लगान की वसूली करनी होगी। उनके गाय, बछड़े, बैल आदि जो कुछ थे, सब कुछ पुलिस हाँककर ले जा रही है। रुपये न देने पर उन सबको नीलाम करके लगान की वसूली की जायेगी। पुराना बाकी होने के कारण बनिया उधार देने को तैयार नहीं है। ये लोग उधार ले-लेकर ही किसी प्रकार जीवन-रक्षा कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि हल-बैल भी चले जायँ, तो फिर खेती कैसे होगी ! आप इस बार दीवान साहब से कहकर लगान माफ करा दीजिये। नहीं तो, हम गरीब लोग मर जायेंगे। आप दीवानजी के आदमी हैं, यह काम आपको करना ही होगा। हम लोग यहाँ धरना देंगे।''

संन्यासी ने बारम्बार तहसीलदार की मार्फत दीवानजी को लिखने के लिये कहा। परन्तु वे लोग बोले – वह नौकरी करता है, यह बात नहीं लिख सकेगा। यह बात संन्यासी को ही कहना होगा। हार मानकर संन्यासी ने तहसीलदार को बुलवाकर सारे बातें पूछीं। उन्होंने बताया कि सारी बातें सत्य हैं और बोले – ''क्या करूँ महाराज ! मैं तो हुकुम का दास हूँ। राज्य ने दो बार लगान नहीं लिया। यह तीसरा साल है, इसीलिये हम लोगों को बड़ा शख्त आदेश मिला है। इससे इन लोगों को बड़ा कष्ट होगा और राज्य को भी विशेष कुछ लाभ नहीं होगा। बनिया इन लोगों को लूटकर खा जायेगा। आप यदि दीवान साहब से कहकर नीलाम रुकवा सकें, तो ये लोग बड़े उपकृत होंगे और मुझे भी बड़ी खुशी होगी।''

अत: अगले दिन भोपाल जाकर दीवानजी से कहकर यदि कुछ हो सके, इसके लिये प्रयास करने का निश्चय करके संन्यासी चल पड़ा। तहसीलदार ने वचन दिया कि वे संन्यासी के लौटने तक नीलामी को स्थगित रखेंगे।

भोपाल में

संन्यासी ने मास्टरजी का आतिथ्य ग्रहण किया। सहसा आगमन का कारण पूछा और सारी बातें सुनीं। – ''मास्टरजी, कुछ करने की जरूरत है।'' उन्होंने अपनी असमर्थता जताते हुए कहा – ''यह मेरी क्षमता के परे हैं।'' और बोले – ''आप दीवानजी से कहकर देख सकते हैं, क्योंकि यह आदेश सीधे बेगम साहबा से आया है। उन्हीं के निर्देश पर सब हो रहा है, इसलिये उन्हीं को पकड़ना होगा।'' (उन दिनों बेगम साहबा ही भोपाल रियासत की शासिका थीं।)

संन्यासी दीवानजी के पास गया। वे सब कुछ सुनने के बाद बोले – ''यह असम्भव है ! तीन-तीन साल से रियासत का कर नहीं दिया। रियासत चलेगी कैसे? इसलिये, स्वामीजी इस बार तो किसी भी हालत में माफ करना सम्भव नहीं होगा। बेगम साहबा ने स्ट्रिक्ट आदेश दिया है ! और आप तो वहाँ तपस्या करने गये हैं, इन सब झंझटों में क्यों पड़ रहे हैं? इन सब में न पड़ना ही अच्छा है।''

संन्यासी ने कहा – ''थोड़ा कह कर देखिये न ! यदि वे गरीबों को बख्स दें। यदि उन लोगों की खेती-बारी के सामान नीलाम हो जायेंगे, तो फिर वे वर्षा के दिनों में खेती कैसे करेंगे? उनके हल-बैलों को नीलाम करना उचित नहीं होगा।''

दीवानजी ने सिर हिलाते हुए बताया कि वे तो नौकर मात्र हैं और मालिक के कठोर आदेश के विरुद्ध कुछ कहना उनके लिये सम्भव नहीं होगा।

संन्यासी ने देखा कि तर्क आदि करने से कोई लाभ नहीं है। दीवानजी धार्मिक व्यक्ति थे, प्रतिदिन गीता-पाठ करते थे, परन्तु उनमें नैतिक साहस या मानवता का बोध न था। इसीलिये संन्यासी सोचने लगा कि अब क्या किया जाय? मास्टरजी से बात करके भी देख लिया कि उनमें भी बेगम साहबा के कानों तक बात पहुँचाने योग्य साहस नहीं है।

आखिरकार संन्यासी ने सोचा कि यदि सीधे पत्र लिखूँ, तो मास्टरजी तथा दीवानजी दोनों ही मुश्किल में पड़ेंगे, क्योंकि प्रश्न उठेगा कि यह संन्यासी कौन है? वहाँ पहुँचा कैसे? पूछताछ करते ही बेगम साहबा को पता चल जायेगा कि इन्हीं लोगों ने भेजा है। तब ये लोग निश्चित रूप से

कठिनाई में पड़ जायेंगे। अत: कोई उपाय करके उनके कानों में यह बात पहुँचा देनी होगी।

इसके बाद एक उपाय सूझा। मास्टरजी प्रतिदिन नवाबजादा लोगों को पढ़ाने जाया करते थे। वे यदि जान-बूझकर थोड़ा विलम्ब से जायँ, तो अवश्य पूछा जायेगा कि देरी क्यों हुई। इस पर वे संन्यासी अतिथि के आगमन के साथ-साथ अन्य बातें भी बता देंगे और इस आगमन का कारण बताते हुए निर्धन प्रजा के दु:ख की कहानी भी सुना देंगे।

यह योजना उन्हें भी पसन्द आयी और अगले दिन वे उसी प्रकार विलम्ब से गये। फिर नवाबजादों द्वारा देरी से आने का कारण पूछने पर उन्होंने योजनानुसार सारी बातें बता दीं। उन लोगों ने स्वयं ही बेगम साहबा के पास जाकर सब कुछ कह दिया। बातें सुनते ही और उनकी युक्तिसंगतता देखकर मातृहृदय बेगम साहबा ने दीवानजी को बुला भेजा और तत्काल आदेश दिया – नीलाम बन्द करो, टैक्स माफ करो। जय भगवान !

इसके बाद दीवानजी ने स्वयं ही मास्टरजी के घर आकर संन्यासी से भेंट की। बोले – "आपने तो बेगम साहबा के पास आवेदन भिजवाकर टैक्स माफ करवा लिया है। मैंने वसूली बन्द करा दी है।" आदि आदि।

संन्यासी थोड़ा-सा कुछ कहे बिना नहीं रह सका – "यह सूचना तक ले जाने का नैतिक साहस आप नहीं जुटा सके, इस कारण मैं सचमुच ही दुखी हूँ। आप धार्मिक व्यक्ति हैं, मैंने सोचा था कि आप लोगों की पीड़ा का शीघ्र अनुभव करेंगे, परन्तु वैसा तो देखने में नहीं आया। निर्धन जनता के भयंकर दु:ख-कष्ट तथा अभाव के फलस्वरूप उनकी आर्थिक दुरवस्था की बात बेगम साहबा को सूचित करने से आपकी नौकरी नहीं चली जाती। वे तो यही पूछतीं कि क्या करना उचित होगा। क्षमा कीजियेगा, रियासत यदि इच्छा करे तो ऋण लेकर प्रजा को राहत दे सकता है। रियासत के लिये यह वैसा कष्टकर नहीं होगा, परन्तु निर्धनों के लिये – विशेषकर जो लोग सर्वदा ही अभावग्रस्त रहते हैं तथा ऋण में डूबे हुए हैं, उनके लिये ऋण लेना कितना दुष्कर तथा कितना दु:खद है, इसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते। इसे बिना देखे समझा नहीं जा सकता। सूदखोर कभी-कभी तो २०-२५ प्रतिशत तक सूद लेता है। रियासत को तो निश्चित सूद पर रुपये मिल सकते हैं। मैं तो यही समझता हूँ कि प्रजा के सुखी रहने पर राजा के भी सुख-समृद्धि में वृद्धि होती रहती है। परन्तु दीवानजी, आप लोग तो अधिक जानते हैं। खैर, मातृहृदया बेगम साहेबा के प्रति मेरी श्रद्धा ज्ञापित कीजियेगा। आज मैं अपने हृदय में सन्तोष लेकर जा रहा हूँ और उनके यश-गौरव में वृद्धि की भी कामना करता हूँ।"

अब थोड़ी मास्टरजी की बातें कहूँ।

मास्टरजी कानपुर के तिवारी ब्राह्मण हैं, ट्रिपल एम.ए हैं। वे भोपाल राज्य के टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज के प्रधानाचार्य हैं और बेगम साहबा के दो या तीन पुत्र-पौत्रों के शिक्षक भी हैं। बाद में बेगम साहबा की मृत्यु के बाद जो नवाब साहब गद्दी पर बैठे थे, वे मास्टरजी के छात्र थे और इन्होंने ही दौड़ते हुए जाकर बेगम साहबा को अकाल के कारण उत्पन्न भयंकर परिस्थिति के विषय में सूचित किया था। अस्तु।

मास्टरजी के विशेष निमंत्रण पर संन्यासी एक अन्य समय भोपाल आकर उनके साथ ठहरा था। साथ में उनका वह भतीजा भी था, जो मर्दानपुर के बैंक में ब्रांच-मैनेजर था। मास्टरजी के स्त्री-पुत्रों के देश गये होने के कारण उनका मकान खाली था। भोजन बनाने का भार उनके उसी भतीजे पर था। वह दाल-रोटियाँ तथा सब्जी बनायेगा। वह खुले बरामदे में भोजन बना रहा था। संन्यासी उसके साथ थोड़ा व्यंग्य-विनोद करके उसका उत्साह बढ़ाने के उद्देश्य से उसके पास जाकर बैठ गया।

देखा कि उसने थोड़ा-सा आटा दूध में सानकर अलग रख दिया। पूछने पर पता चला कि दूध में साना गया आटा उसके काका अर्थात् मास्टरजी के लिये है। संन्यासी ने निश्चय किया कि लड़के से कुछ कहे बिना ही इस विषय में मास्टरजी से पूछेगा कि ऐसा क्यों है? इधर-उधर की बातें करते हुए खाना तैयार हो गया। इसके बाद यथासमय मास्टरजी आ पहुँचे। लड़का रोटियाँ देकर स्नान करने चला गया। सुयोग देखकर संन्यासी ने पहले ही पूछ लिया कि वह लड़का उनके अपने भाई का लड़का है या नहीं? बताया कि उनके छोटे भाई का लड़का है। पूछा – आपके लिये रोटियों का आटा दूध में साना, इसका क्या कारण है?

मास्टरजी – उसके हाथ की कच्ची रसोई मुझे नहीं चलती। (सब्जी घी में बनायी गयी थी।)

संन्यासी – क्षमा कीजियेगा। मुझे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आपको अपने भतीजे के हाथ की कच्ची रसोई नहीं चलती। ऐसा तो कभी भी देखने को नहीं मिला।

मास्टरजी – जाति की दृष्टि से उसकी माँ थोड़ी नीची जाति की है।

संन्यासी – परन्तु इसके विवाह के समय क्या आप लोग यह परिचय जाहिर करेंगे?

मास्टरजी – सो तो नहीं करेंगे। ऐसा भला कैसे हो सकता है!

संन्यासी – आप एक विद्वान् व्यक्ति हैं। शास्त्रज्ञ भी हैं। आपके इस आचरण से मैं स्तब्ध हुआ। महिलाओं के विषय में भेद-विचार तथा आचार सर्वदा मान्य नहीं हो सकता और होना

उचित भी नहीं है। यह वैदिक परम्परा में नहीं चलता। वृद्धाओं द्वारा कल्पित श्रेष्ठता – ऊँच-नीच की धारणा विज्ञ लोगों द्वारा समर्थित नहीं हो सकता। इन सब विषयों में विद्या-विहीन स्त्री-जाति के मत को प्रबल होने देना क्या आपके समान विद्वान् व्यक्ति के लिये उचित है? और देखिये जिस दूध में आपका आटा साना गया है, वह तो बाजार का दूध है; और यहाँ के सारे मुसलमान गूजर हैं और वे ही दूध बेचते हैं। वे ही लोग गाय-भैंस पालते हैं। और ऐसा भी नहीं है कि वे लोग दूध में पानी न मिलाते हों। हो सकता है कि जूठा पानी ही मिलाकर लाते हों। वे लोग तो उच्छिष्ट आदि न जानते हैं और न मानते ही हैं! मैं तो उस दूध की तुलना में तो कुएँ का ताजा जल कहीं अधिक स्वच्छ तथा शुद्ध मानता हूँ।

इसी बीच लड़का स्नान करके आ गया था और भोजन परोसने की तैयारी में लग गया था। मास्टरजी ने उससे कहा – "अरे, स्वामीजी की रोटियों में से ही मुझे भी दे।" लड़का अवाक हो गया और हम दोनों की ओर देखकर बोला – "आपकी रोटियाँ तो बनी हैं।" इसके बाद उसने संकुचित हो कर ला दिये। उन्होंने ... दिये। इसके बाद से फिर कभी अलग रोटियाँ नहीं बनीं। जय भगवान!

अगले दिन दीवानजी आकर मिले और संन्यासी को चाय के लिये आने का निमंत्रण दिया। उन्होंने आग्रहपूर्वक सूचित किया कि वे भोपाल ताल के किनारे नगर के उस पार आश्रम के लिये जमीन देंगे और भिक्षा आदि की उचित व्यवस्था भी कर देंगे। परन्तु संन्यासी राजी नहीं हुआ और बोला – "भगवान की इच्छा हुई तो भविष्य में देखा जायेगा।"

संन्यासी फिर मर्दानपुर लौटकर यथावत् रहने लगा। एक दिन संन्यासी ने देखा कि ब्राह्मण ने अत्यन्त मैले वस्त्र पहन रखे हैं और स्नान आदि भी नहीं करता, जिसके फलस्वरूप उसके शरीर पर काफी मैल जमा हुआ है।

पूछा – "तुम कौन-से ब्राह्मण हो?" – "गूजर-गौड़।"

गोत्र पूछने पर बताया – "धौम्य गोत्र।" मुझे तत्काल महाभारत की बात याद आ गयी – धौम्य ऋषि पाण्डवों के पुरोहित थे और वनवास के दौरान उनके साथ रहते थे। जब वे लोग नर्मदा के तट पर निवास कर रहे थे, तब यज्ञ आदि अनुष्ठानों के समय सम्भवत: इसी गौड़ जाति में से लोगों को लेकर यज्ञ आदि अनुष्ठानों में सहायता ली थी। द्विज हुए बिना क्या कोई याग-यज्ञ में सहायक नहीं हो सकता – यह रीति सम्भवत: उन दिनों विधि-विधान में परिणत हो गया था। ये लोग उन्हीं के वंशज होंगे। (मारवाड़ में भी गूजर-गोंड़ ब्राह्मण हैं, परन्तु शिक्षित होने के कारण उन लोगों ने इसे 'गूजर-गौड़' कर लिया है और मुझे लगता है कि इसी प्रकार आसानी से गौड़ीय ब्राह्मणों के दल में प्रविष्ट होने की युक्ति बना ली है।)

पुराण आदि ग्रन्थों में ब्राह्मणत्व-प्राप्ति के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं – पिता क्षत्रिय है तो पुत्र ब्राह्मण या वैश्य वर्ण में परिणत हो गया है। अथवा ब्राह्मण पिता के चारों वर्णों के सन्तान भी देखने में आते हैं। यथा – शुनक से शौनक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र हुए हैं। (हरिवंश, अ. २९)

भार्गव के वंश में अंगिरस के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र – चारों वर्णों के पुत्र जन्मे। विश्वामित्र, कौशिक, काण्व, आंगिरस, मौदगल्य, वात्स्य, काण्वायन, शुनक, हारित आदि ब्राह्मण क्षात्रोपेत गोत्र; इनके आदि पुरुष क्षत्रिय थे। हरिवंश के अनुसार नाभागारिष्ट के दो वैश्य पुत्रों को ब्राह्मणत्व प्राप्त हुआ था। (अ.११) आदि आदि।

इस प्रकार बहुत से लोग उच्च वर्णों में उन्नीत हुए हैं। जैसे धौम्य ऋषि ने गूजर-गोंड़ या गौंड़ जाति के लोगों को ब्रह्मणत्व प्रदान किया, उसी प्रकार आधुनिक काल में भी श्री वल्लभाचार्य ने बहुत-से अहीर तथा गोप-जातीय लोगों को ब्राह्मणत्व में उन्नीत किया। वर्तमान सौराष्ट्र में इनका निवास है और इन्हें गिरनारी ब्राह्मण कहते हैं। इनकी उपाधि भट्ट, जोशी आदि है। पिछले ४०-५० वर्षों के दौरान ये लोग अन्य ब्राह्मणों की पंक्ति में स्वीकृत हो गये हैं। (वल्लभाचार्य प्राय: ५०० वर्ष पूर्व हुए और चैतन्यदेव के समकालीन थे।)

कहते हैं कि ये गिरनार तीर्थ में महाविष्णु का यज्ञ करना चाहते थे। उन दिनों वहाँ शैव तांत्रिक ब्राह्मणों का दल और जैन लोगों ने विशेष रूप से उनके साथ असहयोग किया। तब उन्होंने दृढ़ संकल्प किया और स्थानीय अहीर या गोप जाति से चुन-चुनकर लोग लिये तथा उन्हें द्विजत्व प्रदान करके उन्हें वेद-मंत्रों आदि की शिक्षा देने की व्यवस्था की। इसके एक वर्ष बाद उन्होंने इन्हीं लोगों की सहायता से महाविष्णु यज्ञ सम्पन्न किया। वे लोग गिरनारी ब्राह्मण कहलाये। उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि वे लोग इन नवीन ब्राह्मणों के द्वारा ही अपने पूजा आदि सारे अनुष्ठान सम्पन्न करायें। इस प्रकार अब उनके वंशधर पक्के ब्राह्मण हो गये हैं।

योगिराज की साधना (१९२१)

वर्ष १९२१। संन्यासी नर्मदा के पवित्र तट पर परिव्रजन में लगा हुआ था। वह शैवतीर्थ ओंकारेश्वर की ओर चला जा रहा था। उसे पता चला कि १०-१२ मील घना जंगल पार करके वहाँ पहुँचा जा सकता है। उसे दिन के समय पार करने के लिये शाम को एक छोटे-से गाँव के पास ठीक जंगल के किनारे ही एक छोटी-सी कुटिया को देखकर रात को वहीं ठहरने की इच्छा से वहाँ जा पहुँचा।

उस कुटिया में एक योगिराज रहते थे। उनके दो शिष्य सेवक कुटिया के द्वार पर धूनी जलाये रहते थे। योगी भीतर

योगाभ्यास में लगे रहते थे। संन्यासी ने उनके सेवकों को सूचित किया कि वहीं रात बिताने की इच्छा है। अनुमति मिलने पर उसने धूनी के पास ही कम्बल बिछाकर अपना आसन जमा लिया। उन लोगों ने बताया कि गुरुदेव संध्या के पूर्व ही बाहर आयेंगे, तब उनके साथ भेंट हो सकेगी।

प्रशान्त-मूर्ति योगिराज संध्या के पूर्व कुटिया के बाहर आये। संन्यासी द्वारा यथाविधि 'नमो नारायणाय' कहकर अभिवादन करने पर उन्होंने भी प्रति-अभिवादन किया और बताया कि स्नान आदि से निवृत्त होकर बातें करेंगे। कुटिया नर्मदा के ऊपर ही थी। स्वच्छ शीतल जल में स्नान करके आने के बाद संन्यासी के आगमन का उद्देश्य आदि पूछने पर बताया कि परिभ्रमण करना और यदि सुविधा हुई तो ओंकारेश्वर में कुछ काल ध्यान आदि साधना में बिताना।

इसके बाद उन्होंने थोड़ा-सा दूध पीया और दोनों शिष्यों को संन्यासी के लिये भी गाँव से दूध लाने को कह दिया। वे लोग उस समय रात की भिक्षा के लिये गाँव में जा रहे थे। इसके बाद एक छोटी-सी चिलम में गाँजे की एक छोटी-सी टिकिया रखकर उसमें दम लगाते हुए बोले – "सबेरे ही मत चले जाइयेगा। कल आपके साथ बातें करूँगा। इस समय ध्यान में बैठने जा रहा हूँ।"

इसके बाद दोनों शिष्यों के गाँव से भिक्षा करके और संन्यासी के लिये दूध ले आने के बाद बातचीत के दौरान पता चला कि योगिराज गाँजे का दम लगाते ही ध्यान में बैठ जाते हैं। किसी के साथ कोई बात नहीं करते। दिन में केवल तीन बार दम लगाते हैं – सुबह स्नान के बाद, दोपहर में पुन: स्नान-भोजन के बाद और संध्या को स्नान तथा दुग्धपान के बाद। दोपहर को भोजन के पूर्व बातचीत करते हैं – प्रश्न आदि के उत्तर देते हैं। सुनकर संन्यासी आनन्दित हुआ। अब तक उसकी ऐसे किसी भी व्यक्ति के साथ भेंट नहीं हुई थी। गाँजे का सेवन करनेवाले जितने भी मिले थे, वे सब उस गाँजे की उपासना में रत दिखे थे। घण्टों दम मारे जा रहे हैं और 'अलख निरंजन' बोलते हैं। कोई-कोई 'बम भोले' भी बोलते हैं।

अगले दिन सुबह स्नान के बाद पुन: भेंट हुई, परन्तु कोई बात नहीं हुई। वे अपने नियमानुसार दम लगाने के बाद कुटिया के भीतर ध्यान में बैठ गये। दोपहर के १२ बजे वे बाहर आये और पुन: स्नान करने के बाद आकर धूनी के पास बैठे। दोनों शिष्य गाँव में भिक्षा करने गये। तब योग-शास्त्र के विषय में, विशेषकर समाधि-योग के विषय में थोड़ी चर्चा हुई। उन्होंने और भी एक दिन ठहर जाने का आग्रह किया और कहा कि उन दोनों की अनुपस्थिति में वे एक दिन और चर्चा करेंगे। इसी बीच दोनों शिष्य आ गये। भोजन आदि के बाद यथानियम दम लगाकर वे कुटिया में चले गये।

अगले दिन फिर उसी समय बहुत-सी बातें हुईं। अन्त में संन्यासी ने कहा – "यह जो गाँजे का दम लगाकर ध्यान करते हैं, इससे तो बाहरी अवलम्बन हो रहा है। यदि नशा न जमे तो फिर से दम लगाना होगा, अन्यथा मन बैठेगा नहीं। इसीलिये बहुतों का मत है कि इस तरह के किसी बाह्य अवलम्बन का अभ्यास रखना ठीक नहीं, क्योंकि उसके बिना मन कैसे भी नहीं बैठेगा और ध्यान आदि नहीं जमेगा।"

योगिराज – "यह सत्य है कि जिस दिन नशा ठीक नहीं होता, उस दिन मन नहीं बैठता, दुबारा दम लगाना पड़ता है। ठीक है, विचार करके देखता हूँ। आज संध्या को आपके साथ इस विषय में फिर से चर्चा करूँगा।"

उस दिन संध्या के समय वे थोड़ा जल्दी बाहर निकले और दोनों शिष्यों को दूध आदि लेने के लिये गाँव भेजने के बाद कहने लगे – "आपने ठीक ही कहा, लेकिन इस अभ्यास को पूरी तौर से छोड़ना तो सम्भव नहीं होगा।"

संन्यासी – "पहले थोड़ा-थोड़ा कम कीजिये। उसके बाद चेष्टा करके छोड़ दीजियेगा। समय लगेगा। भाँग में शायद कम नशा होता है। अत: एक बार भाँग, फिर एक बार गाँजा – इस प्रकार भी बाद में कम करते हुए पूरी तौर से छोड़ना सम्भव हो सकता है।"

ऐसा ही करेंगे – कहते हुए उन्होंने विशेष प्रसन्नता व्यक्त की। अगले दिन भोजन आदि करके ही जाने को कहा।

ओंकारेश्वर के मार्ग में

संन्यासी दोपहर का भोजन करने के बाद ओंकारेश्वर के मार्ग पर चल पड़ा।

जंगल काफी घना और हिंस्र वन्य पशुओं से परिपूर्ण था। नर्मदा के किनारे-किनारे चला जा रहा था। दो घण्टे चलने के बाद एक जगह कुछ वृक्षों की डालें इतनी नीची तथा रास्ते के ऊपर आ गयी थीं कि खूब झुककर ही उनके नीचे से निकला जा सकता था। उसके नीचे ही नदी बह रही थी। देखा कि सात छोटी-छोटी चिड़ियाँ सामने की डाल पर बैठी संन्यासी की ओर देखकर सिर हिला रही हैं और उसके बाद एक-दूसरे की ओर भी सिर हिला रही हैं, मानो कुछ कह रही हों। बड़ा ही मनोरम दृश्य था। संन्यासी चुपचाप खड़ा होकर उन लोगों का इस प्रकार का वार्तालाप देखने लगा। इसी प्रकार करीब ७-८ मिनट बीत गये। इसके बाद उनके उड़ जाने पर संन्यासी डाल के नीचे से होकर थोड़ा आगे बढ़ा, तो देखा व्याघ्रदेव के बड़े-बड़े पंजों के निशान और सूखे बालू पर बिलकुल ताजे गू पड़े थे। अरे, तो अभी-अभी यह पानी पीकर गया है! यदि वे चिड़ियाँ इस प्रकार न बैठतीं और संन्यासी यदि उन्हें देखने के लिये न रुकता, तो फिर सीधे बाघ के मुख में जा पड़ता। वे दैव-प्रेषित 'जगदम्बा के निर्देश' से आयीं या फिर वे सप्तर्षि थे, जिन्होंने संन्यासी की इस प्रकार रक्षा की!

❖ (क्रमशः) ❖

दान का मर्म

स्वामी सत्यरूपानन्द

महाभारत का महाताण्डव समाप्त हो चुका था। देश में सुख-शान्ति विराज रही थी। महाराज युधिष्ठिर के राज्य में सभी लोग सुखी और प्रसन्न थे। राजकाज भी अत्यन्त सुचारु रूप से चल रहा है।

ऐसे समय में महाराज युधिष्ठिर के मन में एक प्रबल अभिलाषा जागी – "मैं भी अश्वमेध यज्ञ करूँगा।" यह विचार उठते ही उनकी छाती फूल गई। गर्व से मस्तक ऊँचा हो गया। भुजायें फड़क उठीं। उन्होंने अपना निश्चय भाइयों को सुनाया। सभी ने सहर्ष धर्मराज का समर्थन किया।

राज्य के सभी राज-अधिकारियों को इस महायज्ञ की तैयारी करने का आदेश दे दिया। अन्न की कोठियाँ विभिन्न प्रकार के अन्नों से भरी जाने लगीं। पशुशाला में दूध और दान के लिये अनगिनत गायें लाई जाने लगीं। यज्ञ की व्यवस्था के लिये राजकोष से अपार धन दिया गया। यज्ञ की वेदी आदि बनाने के लिये उचित स्थान का चयन किया गया। अनुभवी और निपुण कलाकारों एवं शिल्पियों को मंडप आदि बनाने का भार सौंपा गया। अतिथियों के ठहरने के लिये बड़ी-बड़ी अतिथिशालायें बनवाई गईं।

उनमें शयन-विश्राम आदि सारी सुविधाओं की व्यवस्था की गई। अतिथियों को उनकी रूचि के अनुसार भोजन आदि प्राप्त हो सके इसलिये अनेक पाक-शास्त्रियों का प्रबन्ध किया गया। राज्य के अन्त: अंचल में यह सब तैयारियाँ हो रही थीं।

उधर पाण्डवों की राज्यसीमा के परे बाह्य अंचल में अश्वमेध का विजयी अश्व बढ़ा जा रहा था स्वच्छन्द होकर! महावीर अर्जुन अपनी अजेय वाहिनी के साथ अश्व की रक्षा के लिये सन्नद्ध थे। राज्यों की सीमायें पार हो रही थीं। किन्तु किसका साहस कि धनुर्धर अर्जुन और उनकी विशाल सेना को ललकारे। अश्व जिस राज्य में जाता, उसी राज्य के राजा धर्मराज युधिष्ठिर की आधीनता स्वीकार कर लेते और अनेक बहुमूल्य रत्न एवं पशु आदि भेंट स्वरूप अर्जुन को अर्पित करते जाते।

भारत की परिक्रमा कर अर्जुन यथासमय हस्तिनापुर लौटे तथा महाराज युधिष्ठिर से कहा, 'महाराज! भारत के सभी नरेशों ने आपकी आधीनता स्वीकार कर ली है। भेंट स्वरूप सभी ने अनेक रत्न-धन-पशु आदि अर्पित किये हैं तथा सभी ने यज्ञ में आना भी स्वीकार लिया है।"

अर्जुन की निर्विघ्न एवं सफल विजय यात्रा का समाचार सुनकर धर्मराज बड़े ही प्रसन्न हुये। गद्‌गद् होकर उन्होंने अर्जुन को गले से लगा लिया। मंत्रियों एवं विद्वानों से परामर्श कर तपस्वी ऋषियों, त्यागी एवं ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों आदि के पास यज्ञ संपन्न करने हेतु निमन्त्रण भेजा गया। चारों दिशाओं में दूर-दूर तक दूत भेजे गये। सभी ऋषि-मुनि आदि मनीषियों ने धर्मराज युधिष्ठिर का निमन्त्रण स्वीकार किया और ठीक समय पर यज्ञमंडल में उपस्थित हुये। महाराज युधिष्ठिर स्वयं ऋषि-मुनि आदि अतिथियों का स्वागत कर रहे थे। उनके निवास-भोजन आदि की व्यवस्था का निरीक्षण कर रहे थे। राजा की सु-व्यवस्था से सभी अतिथि प्रसन्न और सन्तुष्ट थे।

शुभ मुहूर्त में यज्ञ कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित की गई। वेद मन्त्रों की ध्वनि से दिशायें गूँज उठीं। सभी देवताओं का आह्वान कर उन्हें यज्ञभाग दिया गया। यज्ञ के पश्चात् दान प्रारम्भ हुआ। इस महायज्ञ में दान दाता की इच्छा से नहीं अपितु ग्रहणकर्त्ता की इच्छा से दिया गया। राजकोष खोल दिया गया। अन्न के भण्डार खाली कर दिये गये। लाखों गौयें दान में दी गईं। जिसने जो माँगा और जितना माँगा, उसे वही और उतना दिया गया। युधिष्ठिर के महादान से सारी पृथ्वी धन्य हो गई। पृथ्वी पर से दु:ख दारिद्र्य आदि मानों शेष हो गये। निर्धन धनवान हो गये।

इस महापर्व की समाप्ति पर जब सभी ब्राह्मण, मुनि-ऋषि आदि महाराज युधिष्ठिर की प्रशस्ति कर उन्हें आशीर्वाद दे रहे थे, तब एक बड़ी विचित्र घटना घटी। जिस समय यज्ञ-मण्डप में स्तव-गान हो रहा था उसी समय वहाँ वज्र के समान एक गम्भीर गर्जना हुई और सभी ने आश्चर्य से देखा कि वहाँ एक विचित्र-सा प्राणी उपस्थित है। उसका आधा शरीर तो स्वर्ण के समान दैदीप्यमान है, किन्तु आधा साधारण प्राकृतिक अवस्था में है। यह विचित्र प्राणी एक नेवला था। कुतूहलवश सभी लोग उस नेवले को देख रहे थे। तभी उसने मनुष्य की बोली में कहा – "विप्रवृन्द! महाराज युधिष्ठिर के इस महायज्ञ और अतुलनीय दान का महत्त्व सेर भर सत्तू के दान के बराबर भी नहीं है!"

उस धृष्ट नेवले की बात सुनकर सभी लोग बड़े क्षुब्ध हुये। किन्तु उस नेवले का वैचित्र्य और उसकी निर्भीकता देख कर सभी लोग स्तब्ध रह गये। कुछ लोग आगे बढ़े और साहस करके उस नेवले से पूछा, "नकुलराज! धर्मराज युधिष्ठिर ने जो यह यज्ञ तथा महान् दान किया, वैसा अद्‌भुत दान आज तक न किसी ने न देखा था, न सुना था और न भविष्य में ऐसी आशा की जा सकती है। फिर तुमने कैसे इस यज्ञ की निन्दा की और यह कैसे कहा कि इसका महत्त्व सेर भर सत्तू के दान के बराबर भी नहीं है?

नेवले ने हँस कर कहा – "विप्रवृन्द ! अवश्य ही आप मेरे कथन का मर्म नहीं जानते इसीलिये आप लोग इस यज्ञ-दान आदि की इतनी प्रशंसा कर रहे हैं और मुझसे इसकी निन्दा का कारण पूछ रहे हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मेरी बात का तात्पर्य जान लेने के पश्चात् आप लोग भी मेरे मत का समर्थन करेंगे।"

ब्राह्मणों ने कहा – "नकुलराज ! तुम शीघ्र ही हमें सेर भर सत्तू के दाम का रहस्य बतलाओ।"

नेवले ने ब्राह्मणों को तब यह कथा सुनाई – पुण्यभूमि कुरुक्षेत्र में एक ब्राह्मण परिवार रहा करता था उस परिवार में केवल चार ही व्यक्ति थे – ब्राह्मण, उसकी पत्नी, पुत्र एवं पुत्र-वधू। परिवार के सभी सदस्य निष्ठावान् और धार्मिक थे। इस परिवार ने उच्छवृत्ति का व्रत लिया था। इस व्रत के अनुसार ब्राह्मण देवता धन या अन्न का संग्रह नहीं करते थे। पक्षियों की भाँति खेतों-खलियानों आदि से अन्न के दाने आवश्यकतानुसार चुन कर ले आते और उसी से जीवन निर्वाह करते उच्छवृत्ति व्रतधारी होने के कारण इस परिवार ने प्रति छठवें प्रहर भोजन करने का व्रत भी ले रखा था। इसलिये वे लोग सप्ताह में केवल दो ही दिन भोजन किया करते थे।

एक समय की बात है, कुरुक्षेत्र में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। वर्ष-पर-वर्ष बीतते गये, पर वर्षा की एक बूँद भी न पड़ी। सारे क्षेत्र में त्राहि-त्राहि मच गई। पशु-पक्षी भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर मरने लगे। जो कुछ बचे उन्हें बचे भूख की ज्वाला से जलते मनुष्यों ने मारकर खा लिया। पृथ्वी सूख कर फट गई। चारों ओर धूल उड़ने लगी। इस दुर्भिक्ष में ब्राह्मण परिवार पर तो मानों विपत्ति का पहाड़ ही टूट पड़ा। संग्रह कुछ था नहीं। अकाल के कारण खेतों खलियानों से अन्न प्राप्त होना दुर्लभ हो गया। प्रति तीन दिन में भोजन करने का छठवाँ प्रहर आता और ब्रह्मण परिवार को भूखा छोड़कर चला जाता। इसी प्रकार कई प्रहर बीत गये, पर उन्हें अन्न के दर्शन तक न हुये। परिवार के सभी सदस्यों के शरीर भूख की ज्वाला से दुर्बल होने लगे। किसी प्रकार अत्यन्त कष्ट से उनके प्राणों की रक्षा हो रही थी। ऐसी ही विपत्ति के समय एक दिन कहीं से ब्राह्मण को एक सेर जौ के दाने प्राप्त हो गये। ब्राह्मण ने अत्यन्त करुणापूर्वक इस कृपा के लिये प्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और उत्साहपूर्वक अपने घर लौट आये। घर आकर उन्होंने वह अन्न पत्नी को दिया और शीघ्र ही प्रसाद बनाकर अपने इष्टदेव को नैवेद्य देने को कहा। ब्राह्मणी ने श्रद्धापूर्वक उस जव का सत्तू बनाकर देव को अर्पित किया, तत्पश्चात् उसके चार भाग कर एक-एक भाग पति और पुत्र को दिया तथा दूसरे दो भागों को अपने और पुत्रवधू के बीच बाँट लिया। जैसे ही वे लोग भोजन करने बैठे कि द्वार पर दु:खमिश्रित क्षीण स्वर सुनाई पड़ा – "बाबा ! कुछ भोजन सामग्री मिल जाय !"

सभी के हाथ जहाँ के तहाँ रुक गये। भोजन के ग्रास मुँह में रखने के लिये उठे हाथ पुन: भोजन के पात्र में जाकर थिरक गये। सभी के मुख पर एक ही प्रश्न था – "क्या द्वार पर कोई अतिथि हैं?" ब्राह्मण ने तुरन्त द्वार खोला। द्वार खोलते ही उनकी दृष्टि पड़ी एक क्षुधापीड़ित जीवित नर-कंकाल पर, जिसके शरीर पर केवल अस्थि और चर्म शेष थे। पेट क्षुधा के कारण पीठ से चिपक-सा गया था। उस कृश व्यक्ति ने कातर नेत्रों से ब्राह्मण की ओर देखकर पुन: क्षीण स्वर में वही शब्द दुहरा दिये – "बाबा ! कुछ सामग्री मिल जाय।" ब्राह्मण ने लपककर उस अतिथि को सहारा दिया और उसे आदरपूर्वक घर के भीतर ले गये। उसे एक आसन पर बिठाया और अपने भाग का सत्तू उसके सामने रख दिया। भूखे अतिथि ने पलक मारते ही ब्राह्मण के भाग का सत्तू खा लिया, किन्तु उसकी भूख की ज्वाला शान्त होने के बदले और प्रज्वलित हो उठी। तीव्र क्षुधा के भाव उसके मुख पर स्पष्ट झलक रहे थे। ब्राह्मण बड़े संकोच में पड़े। अतिथि की क्षुधा कैसे शान्त की जाय ! अपना भाग तो दे ही चुके थे, अब किसे अन्न से वंचित करें? उनकी पति-परायणा पत्नी ने अपने स्वामी की मनो व्यथा को समझ लिया और उनसे कहा – "नाथ ! स्त्री के लिये पातिव्रत्य धर्म ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। पत्नी अर्धांगिनी कही जाती है। पति के पाप-पुण्य में उसका भी आधा भाग होता है। अतिथि-सेवा के इस महान् धर्म के पालन में मुझे भी आपका सहयोग करना चाहिये। अतएव मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपने भाग का सत्तू भी अतिथिदेव की सेवा में अर्पित कर सकूँ।" ब्राह्मण का संकोच मिट गया। अपनी पतिव्रता पत्नी का सदाचरण देखकर ब्राह्मण की छाती फूल गई। उन्होंने आनन्दपूर्वक पत्नी को अपना भाग अतिथि की सेवा में अर्पित करने की अनुमति दे दी। अतिथि महोदय ने वह सत्तू भी तत्काल खा लिया। किन्तु क्षुधा उससे भी न गई ! उनके मुख के भाव वैसे ही बने रहे। अब ब्राह्मण व्यथित हो उठे, उन्हें यह सोचकर दुख होने लगा कि आज वे अतिथि सेवा के धर्म से च्युत हो रहे हैं। आज एक अतिथि उनके द्वार से भूखा लौट जायेगा। ब्राह्मण की व्यथा उनके मुख पर स्पष्ट दिख रही थी। ब्राह्मण के पुत्र ने पिता के हृदय की व्यथा का अनुभव किया और विनीत भाव से उसने पिता से निवेदन किया – "पिताजी ! नीति कहती है कि माता-पिता की सेवा ही पुत्र के लिये परम धर्म है। उनकी सेवा-शुश्रषा से ही पुत्र को परमगति प्राप्त हो जाती है। आप इस समय दुखित हैं। आपका दुख दूर करने में मैं यदि अपने प्राणों की बलि भी दे सका तो वह मेरे लिये परम सौभाग्य की बात होगी। मुझे आज्ञा दें कि मैं भी अपने भाग का सत्तू अतिथिदेव को

अर्पित कर सकूँ।'' पुत्र का आचरण देखकर ब्राह्मणदेव गद्‌गद् हो उठे। उन्होंने उसे गले से लगा लिया। उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगी। उन्होंने गद्‌गद् कंठ से पुत्र को कर्त्तव्य-पालन की आज्ञा दे दी। उसने भी अपना भाग अतिथि को भेंट कर दिया। अतिथि महोदय ने वह भाग भी खा लिया किन्तु अतृप्ति की कुछ रेखायें अभी भी उनके मुख पर शेष रह गईं। एक बार पुन: उन्होंने ब्राह्मण की ओर देखा। अतिथि के मुख के भावों को देखकर अब तो ब्राह्मण व्याकुल हो उठे। हृदय फटने लगा। वे सोचने लगे – ''प्रभु ! यह क्या ! भूखी पत्नी और पुत्र के मुँह से अनाज लेकर मैंने अतिथिदेव की सेवा में उसे अर्पित किया, स्वयं भूख की ज्वाला से जलता रहा, किन्तु फिर भी मैं अतिथि को तृप्त न कर सका। भगवन् ! मैं अतिथि-सेवा के धर्म से भ्रष्ट हो रहा हूँ। प्रभु मेरा मार्ग दर्शन करो ! मेरे धर्म की रक्षा करो !'' उनका व्यथित हृदय नेत्रों के मार्ग से विगलित होकर बहने लगा।

तभी उनकी सुशीला पुत्रवधू ने अत्यन्त नम्रता पूर्वक अपने श्वसुर से निवेदन किया – ''भगवन् ! आपकी कृपा से ही मुझे आपके सुपुत्र पति रूप में प्राप्त हुये हैं और मैं पतिव्रत रूपी महान् धर्म का पालन करने में समर्थ हो सकी हूँ। पति के कार्यों में योग देना मेरा धर्म है। मेरे पति के लिये आप ही देव स्वरूप हैं। अत: मेरा भी यह धर्म कि मैं अतिथि सेवा के इस महायज्ञ में अपना भी भाग देकर आपको चिन्ता मुक्त करूँ।''

सुकुमारी पुत्रवधू की यह उदारता और त्याग देखकर ब्राह्मण आनन्द से विह्वल हो उठे। उनके हृदय की व्यथा शान्त हो गई। उन्होंने अन्त:करण से पुत्रवधू को आशीर्वाद दिया और उसके भाग का सत्तू भी अतिथि की सेवा में अर्पित कर दिया। अतिथि के ओठों पर मुस्कान की रेखा खिंच गई। उन्होंने पूर्ण तृप्तिपूर्वक भोजन किया। उनकी क्षुधा शान्त हो चुकी थी। मुखमुद्रा से पूर्ण परितृप्ति और सन्तोष झलक रहा था। वे आशीर्वाद देकर अपनी राह चल पड़े।

निरन्तर उपवास और साधना की कठोरता के कारण ब्राह्मण-परिवार के सभी सदस्यों के शरीर दुर्बल और जर्जर हो गये थे। क्षुधा की ज्वाला और साधना की कठोरता को उनके शरीर और अधिक न सह सके। कालचक्र के अलंघ्य नियमानुसार वे चारों काल-कवलित हो गये। नेवले ने कहा – ''विद्वद्‌वृन्द ! मैं उसी स्थान पर एक बिल में रहता था। भोजन की खोज में मैं भी भटक रहा था। जिस स्थान पर उस अतिथि ने भोजन किया था, वहाँ सत्तू के कुछ कण पड़े थे। अकस्मात् मेरे शरीर का एक भाग उन कणों से छू गया। स्पर्श मात्र से ही मेरे शरीर का वह भाग स्वर्णिम हो गया। मैं उसी दिन से ऐसे किसी महान् धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ या दान आदि के पावन स्थल की खोज में भटक रहा हूँ, जिससे कि मैं अपना आधा शरीर भी स्वर्णमय कर सकूँ। तब से आज तक मैं कई ऐसे पवित्र स्थानों पर भटक आया हूँ जहाँ दान-पुण्य होते रहते हैं। महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ-दान की मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी थी और इसीलिये यहाँ आया था। किन्तु अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी मुझे निराशा ही हाथ लगी।

''धर्म स्वयं अतिथि के रूप में उस ब्राह्मण की परीक्षा लेने आये थे। धर्म ने परवर्तीकाल में दान का जो मर्म बताया था वही मैं आप लोगों से निवेदित कर रहा हूँ।

''सुखी और सम्पन्न रहने पर अपनी सुविधानुसार तो बहुत से लोग दान किया करते हैं। किन्तु उनका दान, दान की पवित्र भावना से नहीं किया जाता। वे लोग तो दीन-दुखियों के प्रति दया या करुणा की भावना से प्रेरित होकर करते हैं, अत: अपनी संपन्नता या समर्थता ही इन लोगों के दान की प्रेरणा होती है। इसलिये उस दान का फल श्रेष्ठ नहीं होता। जो लोग नाम-यश या कीर्ति की आशा से अथवा दान के बदले कुछ प्राप्ति की आशा से दान करते हैं, वह दान निकृष्ट कहा जाता है। उस दान से दाता को किसी भी फल की प्राप्ति नहीं होती। सच्चा दान तो वही है जो केवल दान की प्रेरणा से ही दिया जाय।

''दान करना मेरा धर्म है यह सोचकर साधारण परिस्थिति में जो दान किया जाता है, उसका सुफल निस्सन्देह प्राप्त होता है। किन्तु असाधारण और विषम परिस्थिति में जबकि मनुष्य को दान देने की कोई सुविधा नहीं रहती, कष्ट और विपत्तियों के कारण जब मनुष्य का चित्त विक्षुब्ध हो जाता है तब भी यदि दान के विषय में उसकी निर्लोभ बुद्धि रहे शुद्ध दान की प्रेरणा से प्रेरित होकर वह अपना सर्वस्व श्रद्धापूर्वक दान कर दे, तो निश्चय ही उसे परमपद की प्राप्ति होती है।

''क्योंकि धन ही एकमात्र दान का साधन नहीं है। श्रद्धापूर्वक किये हुये थोड़े से अन्न के दानों के दान का महत्त्व कोटिश: स्वर्ण मुद्राओं के श्रद्धारहित दान से कहीं श्रेष्ठ है। अत: दान का फल वस्तुगत न होकर, भावगत है। श्रद्धा ही दान की श्रेष्ठता या न्यूनता की कसौटी है। दान देते समय दानदाता के मन में दान के प्रति जो भाव होते हैं वही दान की कसौटी है। यही दान का मर्म है। ❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१३१. अँखियाँ दर्शन को प्यासी

सन्त रामदास का कीर्तन समाप्त होते ही दो व्यक्ति उनके पास आकर चरण स्पर्श करते हुये बोले, ''हम आपके जाम्ब गाँव के निवासी हैं। आपकी माता राणू बाई बड़ा ही कष्टमय जीवन बिता रही हैं। उनकी आँखों की ज्योति भी अब नहीं रही। अच्छा होता, आप एक बार उनसे मिल आते।''

जाम्ब ग्राम पास ही होने से समर्थ दूसरे ही दिन घर जा पहुँचे और बाहर से ही उन्होंने जय जय रघुवीर समर्थ की आवाज लगाई। बेटे की आवाज को पहचानकर माँ अन्दर से ही चिल्ला पड़ी, ''नारायण, तू आ गया क्या रे?'' – ''हाँ, माँ ! तुम्हारे दर्शन के लिये मैं आया हूँ'' – कहकर रामदास जी ने झुककर माता के चरणों को स्पर्श कर प्रणाम किया। ''तू तो मुझे देख रहा है, मगर मैं तुझे कहाँ देख पा रही हूँ?'' – कहकर माता ने अपनी व्यथा व्यक्त की। इस पर रामदास जी बोले, ''प्रभु श्रीराम की कृपा से यह भी होगा।'' उन्होंने ये शब्द कहे ही थे कि माँ यह देख दंग रह गई कि उन्हें अब सब कुछ दिखाई दे रहा था। साधु वेश में बेटे को देख वे बोली, ''यह क्या भेष बना रखा है रे तूने।'' – ''माँ मैं अब संन्यासी हो गया हूँ और मैंने लोगों की भलाई करने का संकल्प लिया है। तुमने मेरे दर्शन कर लिये और मैंने तुम्हारे दर्शन कर लिये, इसलिये अब वापस जा रहा हूँ।'' कहकर उन्होंने माता के चरण छूए और चुपचाप वहाँ से चले गये। साधु-महात्माओं का घर-गृहस्थी और परिवारजनों के प्रति उनका कोई मोह नहीं रहता।

१३२. भूखा देख दया उपजत है

घटना तब की है, जब संत फ्रान्सिस युवा थे। उनके पिता एक व्यापारी थे और उनके घर में रुपये-पैसों की कोई कमी न थी। एक बार फ्रान्सिस चर्च में प्रार्थना करने गये। वहाँ की टूटी-फूटी हालत देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने तुरन्त अपने कीमती कपड़े और घोड़े बेचकर सारा पैसा पादरी को दे डाला। एक भिखारी ने जब उनसे कहा कि वह बहुत दिनों से भूखा है, तो उसे भी कुछ कपड़े और अनाज भी दे डाला। पिता ने देखा तो वे उन पर नाराज हो गये और बोले, ''मैंने जो कमाया है, वह इस प्रकार लुटाने के लिये नहीं है। तुम्हें उसे दूसरों को देने का कोई हक नहीं है। तुम यदि इसी प्रकार घर का धन और चीजें बरबाद करते रहे, तो तुम्हारा घर में न रहना ही अच्छा। फ्रांसिस ने कहा, ''हमें जब साफ-साफ दिखाई दे रहा है कि हजारों लोग भूखे मर रहे हैं, उनके पास खाने के लिये चीजें नहीं, पहनने को कपड़े नहीं, तो हम एशो-आराम का जीवन कैसे बिता सकते हैं? अच्छा हुआ जो आपने मुझे इस माया-मोह से मुक्ति दिला दी। आपका धन आपको ही मुबारक हो।'' यह कहकर उन्होंने पहने हुए कपड़े उतार दिये और एक चोला पहनकर हमेशा के लिये घर को त्याग दिया।

धन साध्य नहीं, साधन है। उसका व्यय उपयोग के लिये होना चाहिये, उपभोग के लिये नहीं। संचित धन का उपयोग परोपकार सत्कार्य और लोकहित में करना आत्म कल्याण है तथा सात्विक कर्म भी।

१३३. द्रवे दीन पर सोई बड़भागी

एक दिन एक व्यापारी ने अपने गुलाम को चार असर्फियाँ देकर बाजार से चार चीजें लाने को कहा। मार्ग में एक जगह लोगों का मजमा देखकर उसने उत्सुकतावश पूछा कि यहाँ इतनी भीड़ क्यों एकत्र है। एक व्यक्ति ने बताया कि यहाँ सन्त मन्सूर अम्मार आये हुये हैं। आगे बढ़ने पर उसने सन्त को लोगों को सम्बोधित करते हुये सुना, ''क्या यहाँ कोई ऐसा मर्द है, जो इस बूढ़े गरीब दरवेश को चार असर्फियाँ देकर बदले में मुझसे चार दुआऐं लेगा। गुलाम ने अपने पास की चारों असर्फियाँ बूढ़े दरवेश को दे डालीं। तब सन्त ने गुलाम से उसकी चार इच्छाएँ पूछीं। उसने बताया, ''पहली यह कि मुझे आजादी नसीब हो; दूसरी यह कि खुदा मेरे मालिक को नेकी दे, ताकि वह नेक राह पर चले; तीसरी यह कि मेरे द्वारा दी गयी असर्फियाँ मेरे मालिक की अमानत होने के कारण मुझे चार असर्फियाँ मिल जायँ, तो मैं उन्हें लौटा सकूँ; और चौथी यह कि आप पर तथा इस मजलिस में शामिल सभी लोगों पर अल्लाह मेहरबान हो जायँ।'' सन्त ने आँखें बन्दकर खुदा की इबादत की और गुलाम लौट गया।

मालिक ने उसे खाली हाथ लौटा देख असर्फियों के बारे में पूछा, तो उसने सारा वृत्तान्त सुना दिया। मालिक ने खुश होकर कहा, ''जा, आज से मैं तुझे आजाद कर देता हूँ, तूने मेरी चार असर्फियाँ जरूरतमंद को देकर नेकी का काम किया है। तूने मेरी अब तक जो खिदमत की, उसके लिये ये चार सौ असर्फियाँ ले जा। ये तेरे काम आयेंगी।'' गुलाम खुशी-खुशी वहाँ से चल दिया। रात को उसने सपने में देखा, कोई उसे कह रहा था, ''हमने तुझ गुलाम पर, मन्सूर अम्मार पर और मजलिस में शामिल सभी लोगों की रहमत की है। आगे भी इसी तरह नेकी के काम करना।'' ❑❑❑

खेतड़ी जाने के पूर्व – देहरादून प्रवास

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसे सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

लाहौर से देहरादून

स्वामीजी देहरादून में एक आश्रम बनाने हेतु वहाँ भूमि चुनने के लिये गये थे। उनके शिष्य शुद्धानन्दजी ने लिखा है – "लाहौर में वेदान्त पर ओजस्वी व्याख्यान देने के बाद स्वामीजी अपने कुछ गुरुभाइयों तथा संन्यासी शिष्यों के साथ देहरादून आये हुए थे। वहाँ उनके लिये एक उद्यान-भवन किराये पर लिया गया था। तब तक हिमालय का मायावती आश्रम आरम्भ नहीं हुआ था। स्वामीजी कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर की आर्थिक सहायता से (हिमालय में) एक आश्रम की स्थापना करने हेतु एक उपयुक्त स्थान की खोज कर रहे थे।"[१]

उन्होंने अन्यत्र लिखा है – "स्वामीजी, मैं, गुडविन, गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) तथा अच्युतानन्द सरस्वती नामक स्वामीजी के एक आर्यसमाजी भक्त आदि और सेवियर दम्पति – देहरादून में जमीन देखने गये। निरंजन महाराज तथा हरिप्रसन्न महाराज वहाँ पहले ही पहुँचकर जमीन देख रहे थे। एक छोटा-सा उद्यान-भवन किराये पर लिया गया था। स्वामीजी उसी में ठहरे और १०-१२ दिन निवास किया। (फिर) पसन्द की जमीन न मिलने पर हम लोगों ने देहरादून से विदा ली।... निरंजनानन्द जी ने स्वामीजी से विदा लेकर देहरादून से अल्मोड़ा जाने का संकल्प किया। मुझे स्मरण है, एक दिन उन्होंने मेरे विषय में स्वामीजी से कहा था, 'इसे मेरे साथ अल्मोड़ा जाने दो, बर्फबारी देखने से इसका स्वास्थ्य ठीक हो जायेगा।' स्वामीजी राजी नहीं हुए। अत: वे अल्मोड़ा चले गये और मैं स्वामीजी के साथ सहारनपुर, दिल्ली, जयपुर, खेतड़ी गया।"[२]

देहरादून में शास्त्र-अध्यापन

सम्भवत: देहरादून में उनका कोई व्याख्यान नहीं हुआ था, परन्तु लाहौर में स्वामीजी ने अपने संगियों को जो शास्त्र पढ़ाना शुरू किया था, वह यहाँ भी जारी रहा। उन दिनों वे उन्हें ब्रह्मसूत्र का रामानुज-भाष्य पढ़ाया करते थे। शुद्धानन्दजी ने लिखा है – "याद आता है, एक दिन देहरादून में पाठ चल रहा था। रामानुज आचार्य द्वारा कथित 'विवेक' और 'विमोक' आदि साधन-समूहों पर चर्चा चल रही थी, स्वामीजी पढ़ाने में इतने तन्मय थे कि पाश्चात्य शिष्य सेवियर दम्पति को इस दिन स्वामीजी के साथ संध्या समय हवा खाने जाने के लिये बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी।

"एक अन्य दिन श्रीभाष्य के उस अंश का पाठ हो रहा था, जिस स्थान पर स्वामी रामानुज ने ज्ञानमार्ग पर आक्षेप किया है – अद्वैतवादी कहते हैं, ज्ञानलाभ होने पर भी प्रारब्ध का क्षय नहीं होता, तब ज्ञान की और क्या शक्ति है? इस स्थान को पढ़ाकर स्वामीजी ने हम लोगों से कहा, 'इसका जवाब दो, देखें।' इसके बाद उन्होंने स्वयं अखण्डनीय युक्ति के द्वारा अद्वैतवाद का पक्ष-समर्थन किया।

"एक अन्य दिन हम लोग अच्युतानन्द के साथ हँसी-हँसी में संस्कृत बोलने की चेष्टा कर रहे थे – अच्युतानन्दजी धाराप्रवाह संस्कृत बोल सकते थे। स्वामीजी उस समय वहाँ पर नहीं थे। वे सहसा वहाँ आ गये और हम लोग उन्हें देखकर लज्जित हो, बातचीत बन्द करके चुप हो गये। पर स्वामीजी ने हम लोगों को संस्कृत बोलने के लिये बहुत उत्साहित किया।[३]

ब्रह्मसूत्र के साथ ही उन दिनों सांख्य दर्शन का भी पाठ चल रहा था। इसे स्वामी अच्युतानन्द पढ़ाते थे, परन्तु पाठ के समय प्राय: स्वामीजी भी उपस्थित रहते। अच्युतानन्द संस्कृत भाषा में पारंगत थे, तथापि शास्त्र के मर्म की व्याख्या करने में बीच-बीच में उन्हें असुविधा होती, तब सहायता के लिए वे स्वामीजी की ओर देखते और स्वामीजी बड़ी आसानी से उन दुरूह स्थलों को सहज सरल भाषा में समझा देते। इस पर सभी उपस्थित लोग अत्यन्त विस्मित रह जाते।

१. The so-called contradictions in Vivekananda's Teachings, Swami Shuddhananda, Prabuddha Bharata, 1931, p. 16-23

२. पत्र, उद्बोधन (बँगला मासिक), सितम्बर २००८, पृ. ६२०

३. समन्वय मासिक, फरवरी १९२८, पृ. ८४

४. युगनायक विवेकानन्द, ५वाँ संस्करण, भाग ३, पृ. ५४

देहरादून निवास

देहरादून में रहते समय उनकी टेहरी राज्य के दीवान से भी भेंट हुई थी। इसके बाद २४ नवम्बर को उन्होंने तीन पत्र लिखे थे – एक इन्दुमती मित्र को, दूसरा मास्टर महाशय को और तीसरा स्वामी प्रेमानन्द को। इस अन्तिम पत्र में उन्होंने लिखा था – "हरिप्रसन्न से मुझे तुम्हारे बारे में सारे समाचार मिले। ... इस समय टेहरी के बाबू रघुनाथ भट्टाचार्य कन्धे के दर्द से बहुत कष्ट उठा रहे हैं। मैं भी बहुत दिनों से गर्दन के पिछले भाग में दर्द से पीड़ित हूँ। अगर तुम्हें बहुत पुराना घी मिल सके, तो थोड़ा उनको देहरादून भेज देना और थोड़ा मुझको खेतड़ी के पते पर भेज देना।... परसों मैं सहारनपुर के लिये प्रस्थान करूँगा; वहाँ से फिर राजपुताना।"

देहरादून की कुछ घटनाएँ

शुद्धानन्दजी लिखते हैं – "वहाँ (देहरादून) स्वामीजी की तबीयत उतनी अच्छी न थी, तथापि वे सर्वदा हम लोगों को वेदान्त आदि पढ़ाते और कहते कि 'मेरी अब भी इच्छा होती है कि संन्यासी के लिये उपयुक्त माधुकरी (भिक्षा) वृत्ति के द्वारा जीवन निर्वाह करूँ, परन्तु क्या करूँ, शरीर को वह सहन नहीं होगा।' अस्तु वहाँ से लौटते समय उन्होंने हममें से कई लोगों को पैदल ही सहारनपुर आने के लिये उत्साहित किया था। इन दिनों उन्होंने हमें संन्यास-धर्म पर अनेक उपदेश दिये थे। यहाँ एक स्थानीय (काश्मीरी) लड़का सामान्य वेतन पर हमारा बर्तन माँजना आदि कार्य करता था। यह सुनकर कि वह क्षत्रिय जाति का है, स्वामीजी उसे क्षत्रियोचित शिक्षा दिलाने की आशा में राजपुताना के खेतड़ी तक ले गये और उसका उपनयन करके उसकी शिक्षा की व्यवस्था की थी। परन्तु बालक के दुर्भाग्यवश स्वामीजी की वह शुभ इच्छा फलीभूत नहीं हो सकी थी।"[५]

अन्यत्र शुद्धानन्दजी ने और भी विस्तारपूर्वक लिखा है – "वहाँ अल्प पारिश्रमिक पर एक लड़के को बर्तन माँजने तथा घर के अन्य छोटे-मोटे कार्य करने के लिये नौकरी पर रखा गया था। करीब ८-१० दिन बाद हम लोग वहाँ से सहारनपुर गये। आश्रम आरम्भ करने हेतु देहरादून के आसपास कोई उपयुक्त जमीन नहीं मिल सकी थी। उन दिनों देहरादून तक रेलवे लाइन नहीं बनी थी। सहारनपुर से देहरादून तक के ९० मील की दूरी तय करने के लिये ताँगा ही एकमात्र साधन था। हम चार लोग पहले से ही पैदल चलकर सहारनपुर पहुँच गये। कुछ घण्टों बाद, जब बाकी लोगों के साथ स्वामीजी सहारनपुर पहुँचे, तो हमें यह देखकर बड़ा ही विस्मय हुआ कि वह बालक भी उनके साथ है। सहारनपुर पहुँचते ही उन्होंने हमसे कहा, 'लड़के को नौकर मत कहना, बल्कि उसे एक ब्रह्मचारी के रूप में सम्बोधित करना और उसी के अनुसार व्यवहार भी करना।' वे वहाँ पर एकत्र स्थानीय लोगों से बोले, 'मैं एक आश्रम बनाने हेतु उपयुक्त स्थान की तलाश में देहरादून गया था, परन्तु मुझे अपने आने के विशेष उद्देश्य में विफल होना पड़ा। जगदम्बा ने मुझे यह बालक प्रदान किया है, ताकि मैं इसे प्रशिक्षण देकर एक सच्चा मनुष्य बना सकूँ।'

"इसके शीघ्र बाद ही हम दिल्ली पहुँचे। वह लड़का बहुत ही गन्दा था। स्वामीजी के एक संन्यासी शिष्य ने साबुन तथा गरम पानी लेकर अपने हाथों से उसे नहला-धुलाकर स्वच्छ कर दिया। फिर दिल्ली के बाजार से उत्तम वस्त्र खरीदकर उसे पहनाया गया, (लड़के ने बताया था कि वह क्षत्रिय जाति का है, इसलिये) स्वामीजी के एक ब्राह्मण शिष्य के द्वारा उसे उपनयन तथा गायत्री मंत्र प्रदान किया गया। फिर हिन्दी सीखने की पहली पुस्तक भी खरीदकर उसके हाथ में दे दी गयी।

"वह बालक दिल्ली से हमारे साथ अलवर, जयपुर तथा खेतड़ी भी गया और हर दृष्टि से उसके साथ टोली के सभी लोगों के समान ही व्यवहार किया गया। परन्तु स्वामीजी की सारी उदारता तथा देखभाल निरर्थक सिद्ध हुई। हमें यह देखकर बड़ा खेद हुआ कि उसके पुराने संस्कार उस पर पूरी तौर से अधिकार जमाये हुए हैं। वह स्वयं भी कभी भूल नहीं सका कि वह मात्र एक नौकर-बालक था और उपनयन संस्कार के महत्त्व को जरा भी नहीं समझ सका। तथापि स्वामीजी ने यह सब कुछ, शायद इस आशा में नजरन्दाज कर दिया कि सम्भव है पवित्र परिवेश में रहकर उसके पुराने संस्कार क्रमशः छूट जायँ। परन्तु खेतड़ी में एक समय स्वामीजी से जान-बूझकर झूठ बोला, तो वे उसे और ज्यादा सहन नहीं कर सके। उन्होंने हमें निर्देश दिया कि ज्योंही हम दिल्ली लौटें, उसे काश्मीर में उसके गाँव भेज दिया जाय। बाद में ऐसा ही किया गया।"[६]

स्वामीजी द्वारा ब्र. हरिप्रसन्न (विज्ञानानन्दजी) को बुलाने का उद्देश्य था देहरादून के पास आश्रम बनाने हेतु जमीन देखना, परन्तु साथ ही एक उद्देश्य और भी था और वह था – भविष्य में गंगाजी के तट पर (बेलूड़ में) श्रीरामकृष्ण का जो मन्दिर बनने वाला था, उसके लिये उत्तरी भारत और विशेषकर राजस्थान की स्थापत्य-कला का बारीकी से निरीक्षण करना।[७] इसी कारण स्वामीजी उन्हें खेतड़ी तक अपने साथ ले गये थे। यात्रा के दौरान वे प्रस्तावित श्रीरामकृष्ण-मन्दिर

५. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला ग्रंथ), सं. १९९३, पृ. २१

६. The so-called contradictions in Vivekananda's Teachings, Swami Shudhhananda, Prabuddha Bharata, 1931, p. 21-22

७. श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, स्वामी गम्भीरानन्द, नागपुर, भाग २, सं. १९८९, पृ. ९०; सत्प्रसंगे स्वामी विज्ञानानन्द (बँगला), पृ. ११

के प्रारूप पर चर्चा भी किया करते थे। बाद में कोलकाता लौटने पर स्वामीजी ने नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में उन्हें इस विषय में विस्तृत निर्देश देकर मन्दिर का एक नक्सा भी बनाने को कहा था। उन्हीं के निर्देशन में लगभग ४० वर्षों बाद उक्त मन्दिर का निर्माण पूरा हुआ था।

मार्ग में दिल्ली आदि स्थानों से लिखे हुए स्वामीजी के कुछ पत्रों के अंश इस प्रकार हैं – **३० नवम्बर १८९७,** स्वामी ब्रह्मानन्द को – "कल मैं अलवर होकर खेतड़ी रवाना हो रहा हूँ। यद्यपि मुझे जुकाम हुआ है फिर भी शरीर ठीक है। पत्रादि खेतड़ी के पते पर भेजना।" **८ दिसम्बर १८९७** – (स्वामी ब्रह्मानन्द को) – "कल हम लोग खेतड़ी के लिए रवाना होंगे। देखते-देखते हमारी संख्या काफी बढ़ गयी है। खेतड़ी पहुँचकर सभी को मठ में भेजने का विचार है। इनके द्वारा जिन कार्यों की आशा थी, उसका कुछ भी न हो सका। अर्थात् मेरे साथ रहने से कोई भी व्यक्ति कुछ भी कार्य नहीं कर सकेगा – यह निश्चित है। स्वतन्त्र रूप से भ्रमण किये बिना इन लोगों के द्वारा कुछ भी नहीं हो सकेगा। अर्थात् मेरे साथ रहने से इनको कौन पूछेगा – केवल समय नष्ट करना मात्र है। इसीलिए इन लोगों को मठ में भेज रहा हूँ। ... यदि तुम्हारा मुख्तारनामा खेतड़ी पहुँच गया होगा तो वहाँ पहुँचते ही मैं उस पर हस्ताक्षर कर तुम्हें भेज दूँगा। ... मेरे पत्रादि खेतड़ी के पते पर भेज देना। राजपुताना में ही मुझे धन मिल जायेगा, तदर्थ चिन्तित न होना। ... देहरादून में उदासी साधु कल्याणदेव तथा और भी दो-एक जनों के साथ भेंट हुई थी। ऋषीकेश के लोग मुझे देखने के लिए विशेष उत्सुक हैं – 'नारायण हरि' की बात बार-बार पूछी जाती है।"

स्वामी कल्याणदेव (१८७६-२००४)

स्वामी ब्रह्मानन्दजी के नाम लिखित उपरोक्त पत्र से स्वामीजी ने हृषीकेश से उनसे मिलने आये संन्यासियों में से केवल स्वामी कल्याणदेव के नाम का उल्लेख किया है। वर्तमान लेखक का यह अनुमान है कि ब्रह्मानन्दजी भी उनसे परिचित रहे होंगे। और दूसरे वाक्य में जो लिखा है कि वे लोग 'नारायण हरि' के बारे में बारम्बार पूछ रहे थे।

१८९० के नवम्बर माह में स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ ऋषीकेश में कुछ काल बिताये थे। उसी समय स्वामी ब्रह्मानन्द भी उनके साथ निवास कर रहे थे। उस समय इन लोगों का हरिद्वार तथा ऋषीकेश के अनेक साधु-संन्यासियों से परिचय हो गया था। उन लोगों द्वारा जिज्ञासित 'नारायण हरि' सम्भवत: स्वामी ब्रह्मानन्द ही थे, इसी कारण स्वामीजी ने अपने पत्र में उन्हें इस बात की सूचना दी। अगर यह अनुमान सत्य हो, तो स्वामी कल्याणदेव ने उसी समय स्वामीजी का पहली बार दर्शन किया था।

भविष्य में १२९ वर्ष की सुदीर्घ आयु पानेवाले साधु कल्याणदेव का कैसे एक तरुण जिज्ञासु के रूप में स्वामीजी से सम्पर्क हुआ और उनसे प्रेरणा पाकर उन्होंने कैसे सौ वर्ष से भी अधिक काल का अपना अवशिष्ट जीवन सेवायज्ञ में होम कर दिया, इसकी गाथा अत्यन्त रोचक तथा प्रेरणादायी है।

उदासी साधु कल्याणदेव का जन्म मुजफ्फरनगर जिले के मुण्डभर गाँव के निवासी फेरूदत्त की धर्मपत्नी भोई देवी की कोख से तीसरे पुत्र के रूप में अपने ननिहाल बागपत जिले के कोताना गाँव में २१ जून, १८७६ ई. के दिन हुआ था। नाम हुआ कालूराम और बचपन मुण्डभर में बीता।

धर्म की ओर रुझान

बाल्यकाल में कालूराम को बुढ़ाना में अपनी बुआ सुरजी के यहाँ जाने का मौका मिला। उनके फूफा बुल्ला भगत वहाँ के बड़े जमींदार थे। घर में किसी बात की कोई कमी नहीं थी, पर सन्तान का अभाव उन्हें बड़ा खटकता था। इसलिए उन्होंने भगवान की भक्ति तथा सन्तों की सेवा में मन लगाया। बुल्ला भगत की साधु-सेवा की ख्याति ऐसी फैली कि उनके द्वार पर हमेशा साधु-सन्तों का जमघट लगा रहता था। उनके यहाँ प्रतिदिन सुबह-शाम रामकथा तथा भजन-कीर्तन होता और उसके बाद प्रसाद-वितरण भी होता।

यह सब देख कालूराम को बड़ा आनन्द होता। वह बड़े सबेरे ही नहा-धोकर तैयार हो जाता और अपने फूफाजी के पास ही काठ के तख्त पर बैठकर ध्यानपूर्वक कथा सुनता। बचपन में सुने गये रामायण के प्रसंगों की कालूराम के हृदय में गहरी छाप पड़ी और उसमें निरूपित चरित्र ही उसके लिए आदर्श बन गये। एक दिन वे अपने फूफा का घर छोड़कर साधु-सन्तों के साथ निकल गये। उस समय उनके शरीर पर एक लँगोटी तथा एक सूती चादर के सिवा और कुछ न था।

खाली हाथ और नंगे पैर भिक्षाटन करते और मार्ग पूछते हुए कालूराम अयोध्या पहुँच गये। वहाँ उनकी भेंट स्वामी रामदास से हुई, जिनसे उन्होंने अक्षर-बोध सीखा। अब वे रामायण का हिन्दी भाषान्तर स्वयं पढ़ सकते थे। अयोध्या में ही उन्हें हरिद्वार-तीर्थ के बारे में जानकारी मिली।

कुछ दिन अयोध्या में बिताने के बाद कालूराम ने हरिद्वार की राह ली। हरिद्वार पहुँचने के बाद वे वहाँ के कई आश्रमों में आते-जाते रहे। वहाँ वे कथा-कीर्तन सुनते, साधु-महात्माओं की संगति करते और भूख लगने पर भिक्षा माँगकर खा लेते। इन्हीं दिनों वे भ्रमण करते हुए खेतड़ी गये और वहाँ उन्हें स्वामी विवेकानन्द जी का दर्शन तथा मार्ग-दर्शन मिला। स्वामी विवेकानन्द से उनकी यह भेंट उनके जीवन की एक रूपान्तरकारी घटना थी। खेतड़ी से वापस हरिद्वार लौटने के बाद उनके मन में किसी गुरु से दीक्षा लेने की प्रबल इच्छा

उत्पन्न हुई। अपने लिए उपयुक्त गुरु की खोज में कालूराम ऋषीकेश में स्थित मुनि की रेती पहुँचे, जहाँ उनकी भेंट स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज से हुई। सरल तथा निर्मल चित्त वाले पूर्णानन्द जी ने कालूराम की प्रार्थना स्वीकार कर ली। कालूराम की सेवा-परायणता देखकर उन्होंने १९०० ई. में उन्हें संन्यास के व्रत में दीक्षित करके उन्हें स्वामी कल्याणदेव नाम दे दिया। इसके बाद उन्होंने कुछ काल उत्तराखण्ड में ही रहकर घोर तपस्या भी की। तदुपरान्त वे पुन: अपने विविध प्रकार के लोकोपकारी कार्यों में जुट गये। उन्हीं दिनों आरम्भ किया गया उनका 'सेवा-यज्ञ' उनके सुदीर्घ जीवन के सौ वर्षों से भी अधिक काल तक अबाध गति से चलता रहा।

स्वामी विवेकानन्द जी से पहली भेंट

१८९३ ई. ब्रह्मचारी कालूराम (स्वामी कल्याणदेवजी) भ्रमण करते हुए राजपुताना के शेखावाटी अंचल में पहुँचे। वहाँ उन्होंने सुना कि खेतड़ी के राजा अत्यन्त धर्मात्मा तथा गुणग्राही हैं और इस समय वहाँ उनके पुत्र जन्म की खुशी में बहुत बड़ा जलसा हो रहा है। वहाँ से साधु-सन्तों को भी खुला आमंत्रण मिला हुआ है। स्वामी विवेकानन्द जी उक्त समारोह में भाग लेने तथा पुत्र का आशीर्वाद देने हेतु खेतड़ी पधारे थे और २१ अप्रैल से १० मई (१८९३) तक का समय उन्होंने खेतड़ी में बिताया था। वहाँ किसी उद्यान-भवन में स्वामीजी के निवास की व्यवस्था हुई थी। उसी भवन के उद्यान में कल्याणदेव जी की स्वामीजी के साथ भेंट हुई।

'अमर-उजाला' दैनिक के १४ अक्तूबर २००३ ई. के अंक में प्रकाशित एक साक्षात्कार में १२७ वर्षीय स्वामी कल्याणदेवजी से पूछा गया था – "गाँव-गाँव में जाकर समाज-सेवा करने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली?" उन्होंने उत्तर दिया – "सन् १८९३ में खेतड़ी (राजस्थान) में स्वामी विवेकानन्द जी से भेंट हुई थी। उन्होंने कहा था कि भगवान के दर्शन करने हैं, तो गरीब की झोपड़ी में जाना और भगवान को पाना है तो गरीबों, असहाय लोगों, दीन-दुखियों की सेवा करना। सेवा में ही भगवान को पाने का ऐसा मंत्र मिला कि उसे कभी भूल नहीं पाया।"[८]

एक अन्य विवरण के अनुसार इस भेंट के दौरान स्वामीजी ने कालूराम से कुछ और भी बातें कही थीं। उन्होंने कहा था –

"(१) भगवान के दर्शन गरीब की झोपड़ी में होंगे।

"(२) भगवान के दो बेटे हैं – किसान और मजदूर।

"(३) जब तुम प्रात:काल उठकर घर से निकलोगे, तो तुम्हारे कानों में दो तरह की आवाजें आयेंगी – एक तो मन्दिर के घण्टे की और दूसरी तड़पते-कराहते दुखियों की आवाजें – 'हाय राम, मैं मरा'। पहले तुम कराहते हुए दीन-दुखी लोगों के पास जाओ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनके दु:ख दूर करने के प्रयास करो। उसके बाद ही तुम मन्दिर में जाना।" स्वामीजी की इन बातों ने ब्रह्मचारी कालूराम के मन पर अमिट छाप छोड़ी और कुछ काल बाद संन्यास लेने के उपरान्त वे अगले सौ वर्षों से भी अधिक काल तक गाँव-गाँव में पैदल घूमकर दीन-दुखियों, निर्धनों तथा किसान-मजदूरों की सेवा करते रहे।

स्वामीजी के साथ स्वामी कल्याणदेवजी के सम्पर्क के विषय में सविस्तार जानने हेतु विवेक-ज्योति के सह-सम्पादक स्वामी प्रपत्त्यानन्द शुकताल जाकर २ जुलाई २००७ को उनसे मिले। स्वामी कल्याणदेव जी के शिष्य तथा सहयोगी स्वामी ओमानन्दजी ने बताया – "स्वामीजी (कल्याणदेवजी) १० वर्ष की अवस्था में ही रामलीला में 'भरत-मिलाप' नाटक से प्रेरित होकर गृह-त्याग कर परिभ्रमण करने लगे। उन्होंने १८९३ में कई तीर्थों का भ्रमण किया। वे घूमते-घूमते राजस्थान के खेतड़ी में पहुँचे। खेतड़ी में उन्होंने सुना कि राजा के यहाँ महोत्सव चल रहा है। तब वे वहाँ गये। वही खेतड़ी-नरेश के बगीचे में उनकी स्वामी विवेकानन्दजी से पहली बार भेंट हुई थी। इस घटना का उल्लेख स्वामीजी (स्वामी कल्याणदेवजी) बार-बार करते थे। खेतड़ी का नाम वे बार-बार लेते थे। खेतड़ी उनकी सेवामय जीवन की प्रेरणा -स्थली थी, इस दृष्टि से वे खेतड़ी जाते भी थे। ...

"जब कल्याणदेवजी स्वामी विवेकानन्दजी से पहली बार मिले, तब स्वामीजी ने उनसे पूछा – 'तुम कैसे साधु हो?' कल्याणदेव जी ने कहा – 'मैं परिव्राजक साधु हूँ। मैं साधन-भजन करता हूँ और तीर्थों में भ्रमण करता रहता हूँ।' इस पर स्वामी विवेकानन्दजी बोले – 'नहीं ! तुम ऐसा घुमन्तू साधु मत बनो। तुम जाकर गरीबों की सेवा करो। भगवान के दर्शन गरीब की झोपड़ी में होंगे। भगवान के दो बेटे हैं किसान और मजदूर। जब तुम प्रात: उठकर घर से निकलोगे, तो तुम्हारे कान में आवाजें आयेंगी, एक मन्दिर के घंटे की, दूसरी तड़पते-कराहते हुये दु:खियों की आवाज कि हाय राम ! मैं मरा ! यह आवाज सुनकर तुम पहले उन दीन-दुखी कराहते हुये लोगों के पास जाओ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनका दु:ख दूर करो। मन्दिर में बाद में जाना।'

"पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी की इस वाणी का उनके ऊपर अमिट प्रभाव पड़ा और तब से वे गाँव-गाँव पैदल घुमते हुये दीन-दुखियों, मजदूरों, किसानों की सेवा में लगे रहे। इसलिये सन् १९९४ में उन्होंने अपनी सेवामय जीवन की शतवार्षिकी (१००वीं वर्षगाठ) भी मनायी थी।

"सन् १८९७ में स्वामी विवेकानन्दजी से स्वामी कल्याणदेव जी की दूसरी बार भेंट हुई थी। उस समय स्वामीजी को सेवा क्षेत्र में उतरे ४ साल हुये थे। हो सकता है कि कुछ ऐसी

८. शुकतीर्थ-सन्देश (त्रैमासिक), जुलाई-सितम्बर २००४, पृ. ३

महत्त्वपूर्ण चर्चायें हुई हों, जो स्वामी विवेकानन्द जी को अच्छी लगी हों। इसलिये वे स्वामीजी (कल्याणदेवजी) को अपने पत्रों में याद कर रहे हैं। ... स्वामी कल्याणदेव जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन दीन-दुखियों की सेवा और उनके विकास में लगाया। कभी भी उन्होंने अपने प्रचार-प्रसार और अनावश्यक औपचारिकता को प्रश्रय नहीं दिया। इसलिये उनके सम्बन्ध में विस्तृत विवरण नहीं मिलता। ३४ वर्ष लगातार उनके साथ रहने के कारण समय-समय पर उनके मुख से कुछ बातें कई बार सुनकर, कुछ उनसे पूछकर जो जानकारी मिली है वही ज्ञात है।''[९]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उदासी सन्त कल्याणदेव जी स्वामी विवेकानन्द से पहली बार १८९३ ई. में खेतड़ी-नरेश के उद्यान में और दूसरी बार १८९७ में देहरादून में मिले थे।

संस्थाओं के संस्थापक

करीब सौ वर्षों के अपने सक्रिय कार्यकाल के दौरान पूरी मानवता और विशेषकर ग्रामीण-समाज के कल्याणार्थ उन्होंने पश्चिमी उत्तरप्रदेश, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, दिल्ली तथा देश के अनेक प्रान्तों में राष्ट्रीय महत्त्व की लगभग ३०० संस्थाएँ स्थापित कीं। इनमें प्रमुख हैं – तकनीकी शिक्षा-केन्द्र, आयुर्वेद मेडिकल कॉलेज, माध्यमिक विद्यालय, नवोदय विद्यालय, कन्या विद्यालय, जूनियर हाईस्कूल, प्राथमिक विद्यालय, चिकित्सालय तथा औषधालय, नेत्र चिकित्सालय, संस्कृत पाठशालाएँ, उद्योगशाला, अम्बेडकर छात्रावास, धर्मशालाएँ, मूक-बधिर तथा अन्ध विद्यालय, योग-प्रशिक्षण केन्द्र, वृद्धाश्रम, वृद्ध गायों के लिए पिंजरापोल, अनाथालय, शहीद-स्मारक और अनेक धार्मिक तथा आध्यात्मिक केन्द्र आदि।

उनके द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाओं में हर जाति-धर्म के गरीब तथा अमीर बालक-बालिकाएँ शिक्षण तथा प्रशिक्षण पाते हैं। सैकड़ों संस्थाओं के संस्थापक होने के बावजूद वे उनमें कोई पदाधिकारी नहीं बने। इसके सिवा उन्होंने बाल एवं नारी-कल्याण, स्वदेशी का प्रचार, अछूतोद्धार, मद्यनिषेध, पर्यावरण-सुरक्षा, साम्प्रदायिक एकता और बाल-विवाह आदि की प्रथा को दूर करने के लिए बहुत-सा कार्य किया।

प्राचीन तीर्थों का जीर्णोद्धार

समाज-सेवा के अतिरिक्त स्वामीजी ने कई धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थलों का जीर्णोद्धार भी कराया था। मेरठ से ६० कि.मी. उत्तर में स्थित श्रीमद्-भागवत के प्रवक्ता परमहंस शुकदेव की स्मृतियों से जुड़े प्राचीन तीर्थ शुकताल (जिला मुजफ्फर-नगर) का उन्होंने जीर्णोद्धार कराया और वहाँ 'शुकदेव आश्रम सेवा-समिति' की स्थापना की। इसके अलावा कौरवों-पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर (मेरठ जिला) और हरियाणा के भी अनेक तीर्थों का जीर्णोद्धार कराया।

दरिद्र-नारायण के पुजारी

१२७ वर्ष की आयु में भी **अहर्निशं सेवामहे** का संकल्प धारण किये वे दरिद्र-नारायण की सेवा में अपने जीवन का एक-एक पल सार्थक बनाने में जुटे रहे। उन्हें किसी रोग-शोक या चिन्ता का भय नहीं था। उनका जीवन इतना सरल -सहज था कि प्रात: ५ बजे से लेकर रात १० बजे तक उनके द्वार पर दीन-दुखी, निर्धन तथा सामान्य लोगों की भीड़ लगी रहती थी। वे लोगों के दुख-दर्द तथा समस्याओं की बातें सहानुभूति तथा ध्यानपूर्वक सुनते और उन्हें पूरा सम्मान देते हुए तत्परता सहित उनका समुचित निराकरण करते।

१९१५ ई. में वे महात्मा गाँधी से मिले; और पं. मदन मोहन मालवीय, पं. जवाहर लाल नेहरू, श्री लाल बहादुर शास्त्री, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सम्पूर्णानन्द आदि विभूतियों के साथ भी उनका सम्पर्क रहा। १९८२ में उन्हें 'पद्मश्री' तथा २००० में 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलंकृत किया गया। २००२ में उन्हें मेरठ विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट् की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। २००२ में ही तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने उनके सम्मान में प्रकाशित 'तीन सदी के युगद्रष्टा – स्वामी कल्याणदेव' शीर्षक अभिनन्दन-ग्रन्थ का लोकार्पण किया।[१०]

१४ जुलाई (२००४ ई.) को १२९ वर्षीय 'तीन शताब्दियों के द्रष्टा' राष्ट्रसन्त वीतराग संन्यासी स्वामी कल्याणदेव जी महाराज लाखों लोगों को शोकमग्न करते हुए चिर-समाधि में विलीन हो गये।

❖ (क्रमशः) ❖

९. शुकतीर्थ-सन्देश (त्रैमासिक), अक्तूबर-दिसम्बर २००७, पृ. २

१०. मासिक 'गोधन' (दिल्ली), जनवरी '०३ अंक के मुखपृष्ठ से।
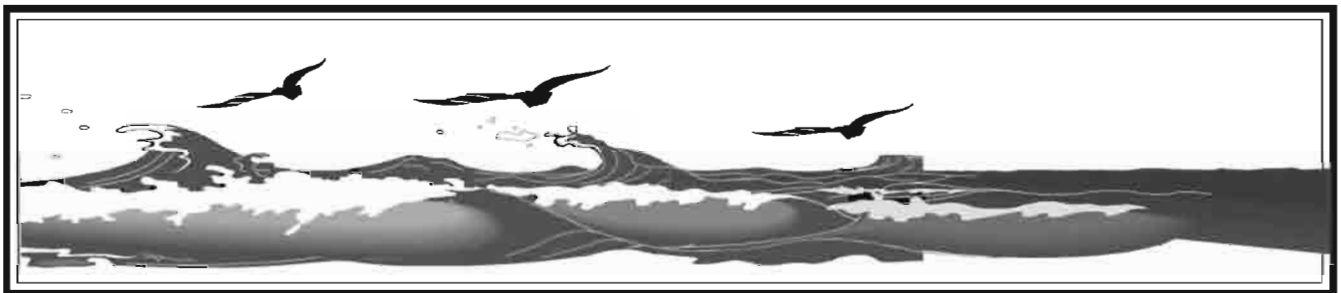
रसखान और उनका काव्य

प्रोफेसर नजीर मुहम्मद

मध्यकालीन ब्रजभाषा के कवियों में रसखान का नाम बहुत प्रसिद्ध है। हिन्दी के भक्त कवियों में सूर, तुलसी, मीरा के समान ही रसखान भी बहुत ही लोकप्रिय रहे हैं।

रसखान पर बहुत कुछ लिखे जाने के बावजूद उनके जीवन-वृत्त सम्बन्धी अनेक प्रश्न अब भी उलझे हुये हैं। रसखान कहाँ पैदा हुए? उनका वास्तविक नाम क्या था? वे ब्रज में कहाँ रहे? उनकी मृत्यु कब हुई? आदि अनेक बातें आज भी तिमिराच्छन्न हैं। रसखान के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विद्वान् लेखकों द्वारा आधारभूत तथ्यों को तिलांजलि देकर बहुत-सी मनगढंत कल्पनाओं की उड़ान इतने सबल शब्दों में की गई है कि उनको पढ़कर उनकी कल्पना-बुद्धि की सराहना करनी पड़ती है।

आश्चर्य होता है कि रसखान के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में उनके स्वकीय कथनों पर भी गम्भीरता से विचार नहीं किया गया। रसखान के नाम, जन्म-स्थान, जन्म और मृत्यु-तिथि आदि के सम्बन्ध में प्राप्त विभिन्न विद्वानों के मतों के सार निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किये जा सकते हैं –

रसखान का वास्तविक नाम सैयद इब्राहीम अथवा सैयद गुलाम मुहम्मद था, या उनके नाम का ठीक पता नहीं। उनका निवास-स्थान दिल्ली या पिलानी (जिला हरदोई) अथवा अमरोहा (जिला मुरादाबाद) था। उनका जन्म सम्वत् १५९०, १६१५, १६४०, १६४१ अथवा १६४६ में हुआ था। उनका स्वामी विट्ठलनाथ से कोई सम्बन्ध नहीं था अथवा वे करीब १६०७ में गोस्वामी विट्ठलनाथ के कृपापात्र बने। उनका निधन १६७५ अथवा १६८५ में हुआ, इत्यादि।

अन्य भक्त कवियों की भाँति ही रसखान भी शालीनतावश अथवा राजनीतिक कारणों से अपने विषय में मौन रहे हैं। 'प्रेम-वाटिका' के अन्त में अपने विषय में लिखे हुये रसखान के निम्नलिखित कुछ दोहे प्राप्त होते हैं –

देखि गदर हित साहबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंश की, ठसक छोरि रसखान।।
प्रेम निकेतन जीवनहिं, आइ गोवर्धन धाम।
लह्यौ सरन चित चाहि कें, जुगल सरूप ललाम।।
तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी मान।
प्रेम देव की छविहि लखि, भये मियाँ रसखान।।
विधु सागर रस इन्दु सम, बरस सरस रसखानि।।
प्रेमवाटिका रुचि रुचिर, हिय हरषे बखानि।।

इनसे ज्ञात होता है कि जब शासन-प्राप्ति के लिये गदर फैलने पर दिल्ली नगर श्मशानवत् हो गया था, तब शाही वंश की शान-शौकत और गर्व को तुरन्त त्यागकर, मानिनी से हृदय तोड़कर और मोह लेनेवालों के मान को छोड़कर रसखान प्रेमस्थल गोवर्धन धाम के श्रीवन में चले आये और उन्होंने चित्त में चाहकर युगल-स्वरूप श्रीहरि की शरण ग्रहण की। प्रेमदेव युगल-स्वरूप की छवि को देखकर वे रसखान मियाँ हो गये। उन्होंने सम्वत् १६७१ में 'प्रेम-वाटिका' की रचना की।

उपर्युक्त कथनों से कुछ मुख्य प्रश्न उभर कर आते हैं –

१. रसखान द्वारा वर्णित गदर कब और कैसे हुआ?

२. रसखान ब्रज में कब और कहाँ आये?

३. प्रेम-वाटिका की रचना करते समय रसखान की आयु क्या थी?

श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने जहाँगीर के पुत्र खुसरू के (जन्म संवत् १६४२ मरण १६७८) द्वारा राज्य प्राप्त करने के लिये हुई घटना को रसखान द्वारा वर्णित दिल्ली का गदर बताया है।

डॉ. शैलेश जैदी इस घटना को औरंगजेब के विरुद्ध शाहजादा मुहम्मद अकबर द्वारा की गई बगावत के काल से जोड़ते हैं। वे रसखान का गोस्वामी विट्ठलनाथ से कोई सम्बन्ध नहीं मानते।

श्री अमृत लाल शील ने दिल्ली की इस घटना को नादिरशाह के आक्रमण से जोड़कर रसखान का समय विट्ठलनाथ से १५० वर्ष बाद का माना है।

वार्ता-साहित्य में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्यों में रसखान का नाम भी आता है। उपर्युक्त विद्वान् रसखान का सम्बन्ध गोस्वामी विट्ठलनाथ से क्यों नहीं मानते, इसका कोई कारण नहीं बताया गया है।

डॉ. भवानी शंकर याज्ञिक इस घटना को अकबर-कालीन बताते हुए लिखते हैं – पुस्तकालय की सीढ़ी से गिर पड़ने से हुमायूँ की मृत्यु के अनन्तर अकबर गद्दी पर बैठा। उसने पठानों को खदेड़-खदेड़ कर अन्त कर दिया और थोड़े से समय में सबका दमन कर सूरीवंश का नाम मिटा दिया आदि। उन्होंने उपर्युक्त घटना को ही रसखान द्वारा वर्णित गदर का नाम दिया है।

वास्तव में रसखान के दोहों में बताये गये गदर और दिल्ली के श्मशान बन जाने का समय शेरशाह सूरी के निधन सन् १५४५ ई. से मुगल बादशाह हुमायूँ के पुन: सत्तारूढ़ होने सन् १५५५ ई. का है।

सूर पठान शासक शेरशाह के काल-कवलित होने पर

उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के बीच सत्ता ग्रहण करने के लिये गृहकलह हुआ और लड़ाई-झगड़े होने लगे। शेरशाह ने अपने बड़े पुत्र आदिल खाँ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था, परन्तु सरदारों ने आदिल खाँ को विलासी और आरामपसन्द समझकर शेरशाह के छोटे पुत्र जमाल खाँ को इस्लाम शाह के नाम से सुलतान नियुक्त किया।

यह घटना गृहकलह की बुनियाद बनी। बहुत से सरदारों ने आदिल खाँ को शासक बनाने का प्रयत्न किया और अनेक दुरभिसन्धियाँ चलती रहीं। नौ वर्षों में ही इस्लाम शाह की मृत्यु हो गई। इस्लाम शाह की मृत्यु के अनन्तर उसका बारह वर्ष का बेटा फीरोज शाह सन् १५५३ ई. में गद्दी पर बैठा। किन्तु तीन दिन के पश्चात् उसके मामा मुवारिज खाँ ने उसकी हत्या करके गद्दी पर अधिकार कर लिया और मुहम्मद आदिल शाह की उपाधि ग्रहण की। उसने हेमू को अपना मंत्री और सिपहसालार नियुक्त किया। उसे 'वसन्तस्य' की उपाधि प्रदान की और स्वयं विलास-सागर में डुबकियाँ लगाने लगा। उसके बहनोई और शेरशाह के भतीजे इब्राहीम सूर ने इसको पराजित कर दिल्ली-आगरा पर अधिकार कर लिया। परन्तु वह भी बहुत दिनों तक नहीं चल पाया था कि शेरशाह के दूसरे भतीजे पंजाब के शासक अहमद खाँ सिकन्दर शाह सूर ने उससे भी सत्ता छीन ली।

वास्तविकता यह थी कि मुगल वंश का सितारा चमकना था। सन् १५४० ई. में शेरशाह से पराजित होकर भागा हुमायूँ भारत के शासन पर अपनी दृष्टि जमाये हुए था। सूर वंशियों के गृह-कलह से लाभ उठाकर हुमायूँ ने सन् १५५५ ई. में दिल्ली-आगरा पर पुनः मुगल राज्य की स्थापना की।

राज्य-लिप्साजन्य संघर्ष और रक्तपात से दिल्ली श्मशान हो रही थी। दिल्ली की यह दशा देखकर भावुक हृदय रसखान दिल्ली छोड़कर ब्रजप्रदेश गोवर्धन-धाम चले आये और वहाँ प्रेम-निकेतन श्रीवन में कृष्णभक्त बनकर निवास करने लगे। उन्होंने स्वयं कहा –

प्रेम निकेतन श्रीवनहिं, आइ गोवर्धन धाम।
लह्यो सरस चितचाहि कें, जुगल सरूप ललाम।।

दिल्ली नगर छोड़कर ब्रज में आये हुये रसखान वहीं झोपड़ी डालकर नहीं बसे होंगे। वे ब्रज में आकर कहाँ बसे? इसका पता लगाने का प्रयत्न किसी विद्वान् ने नहीं किया। उनके दोहे में फारसी लिपि में लिखा हुआ यदि श्रीवन ही है तो वह कहाँ है? यह विषय विचारणीय है।

मथुरा से लगभग ६ मील दूर सादाबाद रोड पर महावन नामक कस्बा है। १०१८ ई. में महमूद गजनवी ने यादव वंशीय शासक कूलचन्द को पराजित किया था। कूलचन्द के वंशजों का शासन महमूद गजवनी के बाद भी रहा। मेवाड़ के राणा ने यहाँ किला बनवाया था। अलाउद्दीन खिजली के समय में सूफी याहिया ने महावन को जीता और उन्होंने राज्य का १/३ भाग प्राप्त किया। तभी से शिया मुस्लिम महावन के मालिक बने। मथुरा जिले में मुसलमानों का सबसे प्राचीन सम्भ्रान्त परिवार महावन के सैयदों का है। अब भी उनके वंशज वहाँ प्रतिष्ठापूर्वक निवास कर रहे हैं।

गोकुल कृष्ण-कथा से सम्बन्धित प्राचीन स्थान है। सम्राट् अकबर की कृपा और गोस्वामी विट्ठलनाथ के प्रयत्न से गोकुल का बहुत विकास हुआ। गोस्वामी विट्ठलनाथ की विद्वता, विनम्रता और शासन के प्रति वफादारी से प्रभावित होकर सम्राट् ने समय-समय पर पाँच शाही फरमान जारी किये और उनको गोकुल भवन, गोशाला मन्दिर आदि बनवाने की विशेष सुविधाएँ प्रदान कीं। उन्होंने सं. १६३४ और सं. १६३८ के फरमानों द्वारा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को गोकुल में रहने के लिये राजकीय सुविधाएँ प्रदान की थीं। बाद में सं. १६५१ के फरमान द्वारा सम्राट् ने गोकुलगाँव की जागीर भी गोस्वामी जी के वंशजों को सदा के लिये माफी में दे दी थी।

सम्राट् अकबर की माता श्रीमती हमीदा बानो ने भी एक आज्ञा पत्र जारी कर गोस्वामी विट्ठलनाथ की गायों को यहाँ चरने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की थी। इस प्रकार सम्राट् द्वारा स्वामीजी को मन्दिर-निर्माण हेतु पर्याप्त धन, चारागाह के लिये पर्याप्त जमीन, सुरक्षा तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त होने पर गोकुल का बहुत विकास हुआ। गोस्वामी तुलसीदास ने गोकुल-दर्शन करके गाया – 'बरनो अब गोकुल गाँव'। रहीम ने लिखा – 'बेटा भयो वसुदेव के धाम औ दुंदुभि बाजत नन्द के द्वारे।' वास्तव में इस युग को गोकुल का स्वर्ण युग कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी। रसखान ने स्वयं लिखा है कि वे दिल्ली से गोवर्धन-धाम आकर प्रेम-निकेतन श्रीवन में निवास करने लगे।

रसखान का बताया हुआ उस काल में परगना गोवर्धन में बसा हुआ महावन ही श्रीवन है। महावन में पुराने सम्भ्रान्त मुस्लिम परिवार के व्यक्ति आज भी निवास करते हैं। इनकी वहाँ जमींदारी रही है। रसखान ने दिल्ली से आकर महावन में ही निवास किया है। महावन में निवास करते हुये ही रसखान का सम्बन्ध महावन के अति समीप स्थित गोकुलवासी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से हुआ। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति का प्रभाव रसखान पर पड़ना स्वाभाविक और सम्भव है। रसखान और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के मधुर सम्बन्धों के विषय में ब्रज क्षेत्र में अनेक चर्चाएँ प्रचालित हैं।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर विट्ठलनाथ जी के शिष्य पं. राधाचरण गोस्वामी ने 'नव-भक्तमाल' में निम्नलिखित पंक्तियों में रसखान की प्रशंसा की है –

दिल्ली नगर निवास, बादसा वंश विभाकर ।
चित्र देख मन हरौ, भरौ पन प्रेम सुधाकर ।।
श्रीगोवर्धन आय, जबै दर्शन नहिं पाये ।
टेढ़े मेड़े वचन रचन, निर्भय है गाये ।।
तब आप आय सुमनाथकर,
सुश्रूषा मेहमान की ।
कवि कौन मिताई कहि सकै,
श्रीनाथ साथ रसखान की ।।

गोस्वामी राधाचरण की प्रशंसा भी 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का ही समर्थन करती है।

महावन के एक वयोवृद्ध नवाब साहब के कथन के अनुसार रसखान उनके पूर्वजों में से थे और वे दिल्ली छोड़कर महावन में आये थे। उनका वास्तविक नाम रसाखाँ था। गुजरात में प्रचलित एक लोकवार्ता के आधार पर रसखान कृष्णप्रेम में तन्मय होकर काबुल से ब्रजभूमि में आये थे। महावन और गोकुल के इतने निकट और सुन्दर सम्बन्धियों से प्रभावित होकर रसखान संवत् १६०७ के लगभग विट्ठलनाथ के सामीप्य में आये।

इसी प्रकार विद्वान् लोग रसखान के नाम के सम्बन्ध में भी एकमत नहीं हैं। 'शिवसिंह सरोज' में इनका नाम सैयद इब्राहिम दिया गया है। याज्ञिकजी इनको इब्राहिम खान बताते हैं। एक अन्य विद्वान् फारसी लिपि में लिखे हुये संग्रह में संगृहीत रसखान की कुछ रचनाओं से पहले रसखान सैयद गुलाम मुहम्मद लिखा देखकर इनका नाम गुलाम अहमद सिद्ध करते हैं।

रसखान का एक चित्र आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भारत कला भवन, काशी से प्राप्त कर प्रकाशित किया है, जिसमें उनके फेंटे में कटार बँधी हुई है। चित्र में फारसी लिपि में उनका नाम रेसोन से अलिफ बुन गुत्रं 'रस खाँ' लिखा हुआ है।

रस फारसी प्रत्यय है, जिसका अर्थ है पहुँचानेवाला। खान तुर्की पुल्लिंग शब्द है, जिसका अर्थ अध्यक्ष, अमीर, सरदार, पठान, बड़ा और प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है। 'रस खाँ' शब्द का अर्थ हुआ पहुँचानेवाला। यही 'रस खाँ' शब्द हिन्दी में व्यवहृत हुआ और फारसी के 'रस खाँ' अर्थात् पहुँचानेवाले सरदार हिन्दी के रसखान बनकर हिन्दी काव्य जगत् में प्रसिद्ध हुए।

रसखान ने संवत् १५७१ में 'प्रेमवाटिका' की रचना की थी। इनके अनन्तर ही महावन में उनका निधन हुआ और वहीं उनकी छतरीदार समाधि बनाई गई। यह समाधि अब तक विद्यमान है। **यह समाधि हम सबन को श्रद्धा को स्थान। ब्रज-रज की रज धरिकें सोवत हाँ रसखान।**

जो विद्वान् रसखान का गोस्वामी विट्ठलनाथ से कोई सम्बन्ध नहीं मानते, वे न तो अपने पक्ष में कोई तर्क ही देते हैं और न कोई इस बात का पुष्ट प्रमाण ही जुटा पाते हैं कि रसखान का गोस्वामीजी से कोई सम्बन्ध नहीं था। वे सब तर्करहित और अनर्गल बातें करते हैं जबकि वार्ता साहित्य, 'भक्तमाल' तथा 'शिवसिंह सरोज' में वर्णित न जाने कितने ही आकाट्य तर्क उनके सामने प्रस्तुत हैं।

गोस्वामी तुलसीदास और रसखान समकालीन रहे हैं। मूल गोसाईं चरित में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित राम-चरित-मानस की कथा रसखान को सुनाने का उल्लेख है –

जमुना तट पै त्रय वत्सर लौं,
रसखानहिं जाई सुनावत भौं।

इन प्रथम प्रमाणों के उपस्थित होने पर भी विद्वानों ने रसखान को खींच-तानकर नादिरशाह के काल तक लाकर रख दिया है, जबकि सत्यता यह है कि रसखान ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ग्रहण की थी। उनके काव्य में वल्लभानुयायी कृष्ण-भक्त कवियों जैसी प्रेममाधुरी एवं भक्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भी रसखान को वल्लभानुयायी बताया गया है।

अकबर बादशाह की बेगमों में ताज बेगम भी थीं। उनके कहे हुये बहुत-से पद प्राप्त होते हैं। पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में उनकी धमार 'आजु ढफ बाजन लागौ हेली' अब भी भक्ति भाव के साथ गायी जाती है। ताज बेगम को भी विट्ठलदास जी द्वारा दीक्षा दिये जाने की बात आई है। रसखान और बेगम ताज में भाई-बहन जैसे मधुर सम्बन्ध रहे हैं। बादशाह अकबर ने नकीब खाँ अब्दुल कादिर बदायूँनी और कई अन्य विद्वानों द्वारा पर्याप्त धनराशि व्यय करके वाल्मीकि रामायण, भगवद्गीता आदि ग्रन्थों के संस्कृत से फारसी में सचित्र अनुवाद कराये थे। कहा जाता है कि रसखान फारसी लिपि में लिखित सचित्र श्रीमद् भागवत को पढ़कर कृष्ण-भक्ति में तल्लीन हुये थे। अत: गोस्वामी विट्ठलनाथ द्वारा दोनों को दीक्षा दिये जाने से बीबी ताज और रसखान का समकालीन होना पूर्णत: सिद्ध हो जाता है।

सचित्र श्रीमद् भागवत के अध्ययन का शुभ अवसर रसखान को ताज बेगम की सहायता से प्राप्त हुआ होगा।

मध्यकालीन इतिहास में सम्राट् अकबर अपने काल के विश्व के सबसे बड़े बादशाह और अत्यन्त उदार महापुरुष थे। उनके धर्मनिरपेक्ष शासन काल में भक्ति की धारा ने समस्त उत्तर भारत को रसाप्लावित कर दिया था। सूर, तुलसी, रहीम, रसखान इसी काल के देदीप्यमान नक्षत्र हैं, जिनकी आभा से आज भी साहित्य के दिग-दिगन्त ज्योतिर्मय हैं।

ब्रज भाषा के सरस कवि रसखान के छन्दों में दोहे,

सोरठे, कवित्त, पद और सवैया प्राप्त होते हैं। मधुरता के कारण उनके सवैया लोक में इतने प्रसद्धि हुये कि 'रसखान' शब्द सवैया का पर्याय बन गया। जैसे कोई रसखानि सुनाओ। रसखान के सवैये 'रस की खान' है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ के कृपापात्र तथा भक्तिकालीन स्वच्छन्द काव्य धारा के विशिष्ट कवि और कृष्ण के अनन्य भक्त रसखान की रचनाएँ भी उनके जीवन परिचय के समान ही निर्विवाद नहीं हैं। रसखान सप्रयास कवि नहीं थे। इनका कार्य काव्य रचना करना नहीं था, बल्कि इनका काव्य मात्र भावाभिव्यक्ति का साधन था। ये जब भी भावावेश में होते, तो सवैया कवित्त इत्यादि छन्दों के माध्यम से इनकी भक्ति-भावना प्रस्फुटित हो उठती थी।

भक्त रसखान की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस्लामानुयायी होते हुये भी वे कृष्णभक्ति में तल्लीन रहे। भक्तमाल-प्रदीप्त के अनुसार इनके द्वारा सहस्रों पदों की रचना की गईं, जो माधुर्य से ओत-प्रोत हैं, लेकिन इनकी निम्नलिखित रचनाएँ ही प्राप्त होती हैं – (१) सुजान रसखान, (२) प्रेम-वाटिका, (३) दानलीला और (४) अष्टयाम।

'सुजान रसखान' स्फुट छन्दों का एक संग्रह है, जिसमें १८१ सवैये, १६ कवित्त, १२ दोहे तथा ४ सोरठे हैं। 'प्रेम-वाटिका' में कवि ने राधा-कृष्ण को प्रेमोद्यान का माली-मालिन बनाकर प्रेम के गूढ़ तत्त्वों का सूक्ष्म निरूपण किया है। इसमें ५३ दोहे हैं। 'दानलीला' केवल ग्यारह छन्दों का एक छोटा संकलन है। 'अष्टयाम' में श्रीकृष्ण की दैनिक क्रियाओं का वर्णन है। रसखान के कुछ छन्द हजरत मुहम्मद और हजरत अली की प्रशंसा में भी लिखे हुए प्राप्त होते हैं।

भक्तकवि रसखान के उपास्य बाल गोपाल हैं। इसका कारण रसखान का वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होना है। रसखान की कृष्ण-भक्ति अत्यन्त सीधी, सरल तथा स्वाभाविक है। वे अपने आराध्य का चिर सान्निध्य पाना चाहते हैं। भक्तों में सम्भवत: रसखान ही एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने जन्म-जन्मान्तर तथा प्रत्येक योनि में कृष्ण से सम्बन्धित वस्तुओं के सामीप्य का आनन्द प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त की है। वे कहते हैं –

मानुष हों तो वही रसखान,
बसौ ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौं खग हों तो बसेरौ करौ,
मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ।।

रसखान मुसलमान होकर भी कृष्णभक्त कवि थे। ब्रजरस महिमा-गान से उनका काव्य अति सुन्दर बन गया है। रसखान का हृदय कृष्ण के मोहक रूप तथा उनसे सम्बद्ध वस्तुओं से, यहाँ तक कि करील के कुंजों पर भी, इतना आसक्त हुआ कि वे उसके लिये स्वर्ण प्रासाद तो क्या, तीनों लोकों का राज्य भी तुच्छ मान त्यागने की घोषणा करते हैं –

या लकुटी अरु कामरियाँ पर,
राज तिहुँ पुर कौ तजि डारौ।
कोटिक हों कलधौंत के धाम,
करील की कुंजन ऊपर वारौ ।।

माधुर्योपासक भक्त रसखान बड़े अनुभवी थे। वे कहते थे कि पनिहारिन जिस प्रकार अपने सिर पर रखे हुए घड़ों को लिये ऊँची-नीची भूमि पर चलती है, परन्तु उनका इतना ध्यान रखती है कि गिरने नहीं देती। उसी प्रकार हमें भी अपने नैमित्तिक कार्यों को निश्छल भाव से करते हुए अपना ध्यान स्व-आराध्य की ओर लगाये रखना चाहिये।

सुनिये सबकी कहिये न कछु,
रहिये इमि या भव सागर में।
'रसखान' गुविन्दहिं यों भजिये,
जिमि नागरि को चित गागर में ।।

'प्रेम-वाटिका' रसखान के प्रेम सम्बन्धी सिद्धान्तों का साक्ष्य है। उनके मतानुसार सभी शास्त्रों का सार प्रेम-तत्त्व ही है। विषयानन्द अथवा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का आधार भी प्रेम ही है। ईश्वर प्रेम का रूप है। प्रेम ही है, जो आत्मा को परमात्मा से मिलाने को तड़पाता है। प्रेम की प्राप्ति कर जीव बैकुंठ तथा हरि को भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता। वे प्रेम-मार्ग की इसी विशेषता का उत्कीर्तन करते हुये कहते हैं –

आनंद अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।
केवल विषयानन्द कूँ, ब्रह्मानन्द बखान ।।

रसखान जिस प्रकार रीति से मुक्त रहे, ठीक उसी प्रकार अपने को भक्ति की साम्प्रदायिक कीर्ति से भी पृथक् रखा। यही कारण है कि उन्होंने वल्लभाचार्य की भगवद्भक्ति तथा अलौकिक साक्ष्य के प्रेम को तो स्वीकारा ही, साथ ही लौकिक प्रेम को भी स्वीकार किया है। अत: ये सभी सगुण-निर्गुण, सूफी, रीति आदि भक्त कवियों से पृथक् प्रेमोन्मत्त स्वच्छन्द स्वभाव के गायक थे। वस्तुत: इन्होंने स्वच्छन्द मार्गी भक्ति से प्रेम के पवित्र क्षेत्र में पदार्पण किया था।

इक अंगी बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान।
गिनै प्रियहिं सर्वस्व जो, सोई प्रेम समान ।।

शक्ति, शील और सौन्दर्य – ये भगवान की तीन प्रमुख विभूतियाँ स्वीकार की गई हैं। रसखान का प्रेमी मन अपने आराध्य श्रीकृष्ण के सौन्दर्य वर्णन में अधिक रमा है। उन्होंने बाल-लीला, रूप-माधुरी, रास-लीला, फाग-लीला इत्यादि का मनोहारी तथा सरस वर्णन किया है। कृष्ण की अनेकानेक लीलाओं में चीरहरण-लीला अत्यन्त प्रसिद्ध है। रसखान के काव्य में चीर-हरण लीला का मात्र एक छन्द प्राप्त होता है। वस्तुत: रसखान भक्त-कवि थे और अपने आराध्य कृष्ण की

प्रत्येक लीला उन्हें सुख-शान्ति-प्रदायक थी।

जीवन, साहित्य और दर्शन – एक दूसरे के पूरक हैं। साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के हार्दिक पक्ष से तथा दर्शन का मानसिक पक्ष से है। भक्ति के सम्बन्ध में दोनों का साध्य भी एक है। ऐसी स्थिति में रसखान को मात्र स्वच्छन्द कवि अथवा प्रेममार्गी कवि कह दिया जाय, तो इनके साथ न्याय नहीं होगा, क्योंकि ये वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे और वल्लभाचार्य ने प्रेम-साधना में लोक-मर्यादा तथा वेद-मर्यादा का त्याग विधेय बताया है। इसलिये रसखान ने 'पुष्टिमार्गी' भक्ति को अपनाया, परन्तु फिर भी स्वयं को सभी सम्प्रदायों से स्वतन्त्र रखा। अत: इन्हें स्वच्छन्द प्रेममार्गी कृष्ण भक्त कहना ही सर्वथा उचित होगा।

रसखान का जीवन-दर्शन प्रेम है। प्रेम मुक्तिदाता भी होता है। रसखान की रचनाओं में प्रेम के उदात्त स्वरूप का ही निरूपण हुआ है –

लोक वेद मरजाद सब, लाज काज संदेह।
देत बहारे प्रेम करि, विधि निषेध को नेह ।।

इस प्रकार रसखान अपने प्रेमी की प्राप्ति हेतु लोक-वेद आदि सबकी मर्यादा का त्याग करते दिखाई देते हैं। जिनकी छवि को निहार रसखान प्रथम दृष्टि में ही रसमग्न हो गये थे, उन्हीं मनमोहन प्रेमदेव की सुन्दर छवि का वर्णन 'सुजान-रसखान' में करते हुए वे कहते हैं –

मोहन छवि रसखान लखि, अब द्रग अपने नाँहि।
ऐंचे आवत धनुष से, छूटे सर से जाँहि ।।
देख्यों रूप अपार, मोहन सुन्दर स्याम को।
यह ब्रज राजकुमार, हिय जिय नैननि में बस्यो ।।

नि:सन्देह रसखान के हिय में प्रेम-बाण चुभा होगा, तभी श्यामसुन्दर उनके हिय जिय वासी हुए होंगे। ऐसे ही प्रेम की पीर से मर्माहत रसखान स्व-आराध्य पर 'कलधौत के धाम' तथा 'तिहुँ पुर का राज' निछावर करने को तैयार हो जाते हैं। यही है उस अलौकिक प्रेम की चरम अवस्था –

दो मन इक होते सुन्यो, पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबहि द्वै तबहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि ।।

अर्थात् अपने प्रेम में लीन हो जाना ही प्रेम का वास्तविक रूप है। रसखान पूर्ण कृष्णमय है। उनका प्रेम-दर्शन विशुद्ध भारतीय दर्शन पर आधारित है। 'प्रेम-वाटिका' में विशुद्ध भारतीय प्रेम-पद्धति के दर्शन होते हैं। प्रेम ही ऐसा तत्त्व है जिसने रसखान को रस की खानि बना डाला।

रसखान मधुरा-भक्ति के कवि थे। उन्होंने मधुर भक्ति-रस के संयोग पक्ष का सर्वाधिक सुन्दर चित्रण किया है। रसखान ने प्रेम की अनन्यता मधुर भाव से स्वीकार की है। वे कहते हैं –

जदपि जसोदा नंद अरु, ग्वाल-बाल सब धन्य।
पै या जग में प्रेम करि, गोपी भई अनन्य ।।

इस प्रकार रसखान ने शृंगार के दोनों पक्षों का अति सुन्दर वर्णन किया है। सवैया लिखने में रसखान को जितनी सफलता मिली है, उतनी किसी विरले को ही मिली होगी। यही कारण है कि रसखान तथा सवैया परस्पर पर्याय बन गये हैं।

रसखान की भाषा में भाषानुसारिणी शब्द-योजना का संयोजन हुआ है। शब्द चयन इनकी भावभिव्यक्ति को पूर्ण सफलता प्रदान करने में समर्थ हैं। शब्द प्रयोग सार्थक हैं। ब्रजभाषा की सरलता, तरलता तथा मधुरता का पूर्ण लाभ रसखान ने ही उठाया है। इनके काव्य वर्णन में चित्रात्मकता तथा संगीतात्मकता का सफल निर्वाह हुआ है। शब्द योजना के द्वारा वस्तु का चित्र उपस्थित करने में रसखान सिद्धहस्त हैं। इनका काव्य प्रसाद गुण सम्पन्न है। ब्रजभाषा लोकोक्तियों तथा मुहावरों के प्रयोग से इनकी भाषा में सजीवता तथा सार्थकता आ गई है।

शुद्ध ब्रज भाषा की जो सफलता और सफाई रसखान और घनानन्द की रचनाओं में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। रसखान वास्तव में 'यथा नाम तथा गुण' की कहावत तो चरितार्थ करने वाले भक्त कवि थे। इनका काव्य किसी प्रयास का फल नहीं, बल्कि हृदयोद्गार की सहजाभिव्यक्ति है। रसखान का काव्य वास्तव में लौकिक प्रेम से अलौकिक भक्ति का सफल सोपान है।

रसखान कृष्ण के भावुक भक्त थे। वे जन्म-जन्मान्तर तथा प्रत्येक योनि में कृष्ण से सम्बन्धित वस्तुओं के सामीप्य का आनन्द प्राप्त करना चाहते थे, पर अब वे कालिन्दी कूल और कदम्ब नहीं रहे। बहुत परिवर्तन हो गया है –

कालिन्दी कलुषित भई, रह्यौ न ब्रज को मान।
कटे करील कदम्ब अब, कहाँ बसें रसखान ।।
रसखान विचारे ने चाह करी,
कै कन्हैया की भूमि में जन्म गुजारे।
गुजारे जि गायन में चरिकें,
कबहू बिधना पसु रूप जो धारे।
धारे कहाँ ब्रज भूमि में वास,
गये ब्रज के सब रूप बिसारे।
सारे करील कदम्ब कटे सो,
कहाँ बसिहैं रसखान बिचारे ।।

❑❑❑

(कार्ष्णि-कलाप से साभार)

माँ की स्मृति

सुहासिनी देवी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

❖ (पिछले अंक का शेषांश) ❖

एक अन्य दिन माँ के पास बहुत-सी स्त्रियाँ बैठी थीं। एक महिला ने भगवान ईसा की बात उठायी। माँ लेटी थीं। ईसा की बात चलने पर वे उठ बैठीं और ईसा के निमित्त दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करके बोलीं, "मैंने निवेदिता से ईसा मसीह के बारे में बहुत-सी बातें सुनी हैं। उनकी जो 'बाइबिल' पुस्तक है, उसी में से उसने ईसा के बारे में मुझे सुन्दर-सुन्दर बातें पढ़ कर सुनायी थीं। अहा, संसार के लोगों का उद्धार करने के लिये आकर ईसा को कितने दु:ख-कष्ट भोगने पड़े थे, तो भी उन्होंने हँसते हुये सब सहन किया – सबसे प्रेम करके इतने अत्याचार के बावजूद नि:शर्त क्षमा कर गये ! उनके अपने ही शिष्यों ने तो उन्हें पकड़वा दिया था ! अहा, उनके हाथों, पैरों, छाती में कील ठोककर, कितनी पीड़ा देकर लोगों ने उन्हें मारा। इतनी पीड़ा, इतनी लांछना के बाद भी वे हँसते हुए सबको क्षमा कर गये। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि वे उनका अपराध न माने। ऐसा प्रेम, ऐसी सहनशक्ति, ऐसी क्षमा – क्या मनुष्य द्वारा सम्भव है? भगवान के सिवा और कौन इतना सहन कर सकता है? भगवान ही तो ईसा के रूप में आकर संसार को प्रेम की शिक्षा दे गये। इसीलिये देखो न, उस देश की बच्ची निवेदिता इस देश में आकर हम लोगों के घर की बालिकाओं के लिये कितना अपमान-लांछना सहकर भी हँसते हुए काम कर गयी, कितना कष्ट उठाकर यहाँ रहकर उन्हें पढ़ाने-लिखाने का प्रयास किया। लोगों के घर जाने पर उन लोगों न उसका अपमान किया, घर में घुसने नहीं दिया – यदि वह घर में गयी, तो उसके निकलते ही या आने के बाद गोबर-पानी या गंगाजल छिड़का है। उसने अपनी आँखों से सब देखकर भी कुछ बुरा नहीं माना। प्रसन्नतापूर्वक चली आई। उसे क्या जरूरत थी अपने जीवन को तिल-तिल कर मिटाने की; इतना अपमान, लांछना सहकर इस देश की बालिकाओं के लिये काम करने की ! परन्तु मेरी बेटी (निवेदिता) का मन इतना सुन्दर था कि चूँकि नरेन की इच्छा है – उसके गुरु की इच्छा है, गुरु ने कहा है – इसीलिये उसने इस देश की बालिकाओं की शिक्षा का भार अपने कन्धों पर ले लिया। दु:ख-कष्ट, अपमान – किसी पर भी ध्यान नहीं दिया, जबकि जिन लोगों के लिये उसने स्वयं का तिल-तिल करके बलिदान किया, उन्हीं लोगों ने उसे दुत्कारा ! हमारे देश की स्त्रियाँ क्या ऐसी परिस्थिति में गुरु के लिये इतना त्याग कर पातीं? कहतीं, 'हम क्यों करे !' इसीलिये तो कहती हूँ कि ठाकुर किस प्रकार कब किससे क्या करा लेंगे, यह तो उनके सिवाय कोई नहीं जानता, कोई नहीं समझता।"

एक दिन एक भक्त महिला ने माँ से कहा, "माँ, हम लोग तो दिन-रात घर-गृहस्थी में सबकी जरूरतें पूरी करते-करते थक जाती हैं। सारे दिन-रात में पाँच मिनट भी ठाकुर को पुकारने का समय नहीं मिलता। हम लोगों का क्या होगा माँ? क्या हम लोगों पर उनकी दया नहीं होगी?" माँ बोलीं, "निश्चित रूप से होगी, बेटी। वे तो अर्न्तयामी हैं। सर्वदा सबके हृदय में विद्यमान हैं। तुम्हारे भीतर आकुलता होने पर वे अवश्य समझेंगे। फिर संसार का कार्य क्या तुम लोग करती हो, बेटी? वे ही कराते हैं। यह संसार उन्हीं का तो है। उनकी इच्छा के बिना क्या कुछ होता है, बेटी? उनकी इच्छा के बिना पेड़ का एक पत्ता तक नहीं हिलता। 'कृष्ण-इच्छा बिना कोई काम नहीं होय।' तुम्हारे अन्तर में यह जो व्याकुलता आयी है, जानना उनकी इच्छा से ही आयी है। जो उनसे प्रेम करता है, उसकी वे रक्षा करते हैं। उन्हें तुम प्रेम करो या न करो, वे तुमसे प्रेम करेंगे। संसार में साधु भी हैं और गृहस्थ भी। तो भी गृहस्थों के लिये वे अधिक सोचते हैं। ठाकुर कहते थे – साधु तो उन्हें पुकारेंगे ही, पर गृहस्थ की पीठ पर बीस मन का बोझ है। इसीलिये गृहस्थों के लिये उन्हें अधिक चिन्ता रहती है। केवल थोड़ा स्मरण-मनन करने से ही हुआ। मन-प्राणों की व्याकुलता के साथ उन्हें पुकारो, उनका स्मरण-मनन करो। दिन के अन्त में आँखों से दो बूंद आँसू बहाते हुए उन्हें पुकारो। इन दो बूंद आँसुओं के सिवा तुम्हारे पास है ही क्या? सब कुछ उन्हीं का तो है। ये दो बूँद आँसू ही तुम्हारे हैं। इतना ही उन्हें दे दो। वे तुम लोगों से बँधे रहेंगे। भय क्या है बेटी, इस बार आकर ठाकुर तुम लोगों के लिये भगवान को पाने का सहज पथ दिखा गये हैं।"

एक दिन मैं माँ के पास गयी। मन बड़ा दुखी था। मैंने कहा, "माँ, मन में किसी प्रकार शान्ति नहीं आती, संसार की ज्वाला में मर रही हूँ। केवल आपसे बातें करके ही शान्ति पाती हूँ।" मेरी आँखों में आँसू देखकर माँ ने कहा, "बेटी, तुम भूल क्यों जाती हो; जो कुछ हो रहा है, सब ठाकुर की इच्छा से हो रहा है। मेरे पास आना – यह भी तो उन्हीं की इच्छा है। भगवान से प्रेम करो, बच्चों को भगवान को प्रेम करना सीखाओ। वे लोग उन्हें अपना समझकर प्रेम करना सीखें। जब जीव पृथ्वी पर आता है, तो वह अपने पूर्वजन्म के कर्मफलों को साथ ले आता है। इसलिये देखा जाता है कि बहुत लोग बचपन से ही भगवान से प्रेम करते हैं। फिर सम्भव है कि कोई बड़ा होने पर कुपथ पर चला जाय। सब अपने-अपने पूर्व कर्मों का फल है। परन्तु **उनकी कृपा होने पर, अपना स्वयं का लिखा वे काट देते हैं। अपना लिखा स्वयं काटते हैं। इसीलिये तो उन्हें 'कपाल-मोचन' कहते हैं।** जब सब कुछ उन्हीं के हाथों में है, तो उन्हीं के चरणों में आत्म-समर्पण करना।"

खूब तृप्त होकर घर लौटी। फिर दो दिन जा नहीं सकी। उसके बाद जब गयी, तो देखा माँ अपने कमरे में बैठी हैं। ठाकुर की बातें कहीं और अपने बारे में भी बताने लगीं, "विवाह के बाद मैं ज्यादातर जयरामबाटी में ही रही। ठाकुर जब दक्षिणेश्वर से कामारपुकुर आते, तो मेरी सास आदमी भेजकर मुझे बुलवा लेती। उस समय तो मैं छोटी ही थी। जो जैसा कहता, वैसा ही करती। वहाँ के लोगों ने मुझे सिखा दिया कि सास की और पति की कैसे सेवा की जाती है। मेरी सास मुझे बड़ा प्यार करती थी। शाम को गाँव के सारे स्त्री-पुरुष घर पर आकर ठाकुर की बातें और उनके गीत सुनते। ठाकुर कितनी ही बातें कहते – कितनी ही आनन्द की बातें कहते। फिर कभी-कभी वे भजन गाते। मैं चुपचाप एक किनारे बैठी हुई सुनते-सुनते सो जाती। किसी के जगाने पर ठाकुर कहते, "उसे मत जगाओ, सोने दो।' उसी के बाद ही तो दक्षिणेश्वर गयी। जब दक्षिणेश्वर से गाँव लौटती, तो मन ठाकुर के लिये खूब उदास हो जाता। जयरामबाटी में रहने पर भानु-बुआ के पास ही अधिक रहती। वह मेरे मन की बातें समझती थी। परवर्ती काल में दक्षिणेश्वर के नौबतखाने में रहने पर ठाकुर के दर्शन का अधिक सुयोग नहीं मिलता। तब तक उनके पास लोगों की भीड़ आने लगी थी। उसके बाद एक-एक कर सारे लड़के आ गये।"

सहसा एक महिला कह उठी, "अच्छा माँ, ठाकुर ने जब तुम्हारी षोडशी पूजा की थी, तब तुम्हें कैसा लगा था?" माँ थोड़ी लज्जित होकर हँसते हुए बोलीं, "पता नहीं बेटी, मैं तो कुछ समझ ही नहीं सकी। मानो किसी भावावेश में थी। सम्भवत: भवतारिणी मेरे अन्दर आ गयी थीं। शायद इसलिये जो कुछ हुआ, उसका मुझे होश ही नहीं था। ठाकुर ने मुझे सजाया, पैरों में आलता लगाया, पूजा की, प्रणाम किया – मैं सब देख रही थी, पर मानो कुछ भी मेरे मन पर अंकित नहीं हो रहा था। अन्यथा ठाकुर ने साष्टांग प्रणाम किया और क्या मैं चुपचाप बैठी रहती! काफी देर बाद जब मेरी स्वाभाविक अवस्था लौटी, तब मैंने मन-ही-मन उन्हें बारम्बार प्रणाम करके क्षमा माँग ली थी।" ये बातें कहकर माँ भाव में स्थिर हो गयीं। काफी देर तक आँखे बन्द किये बैठी रहीं। अन्य लोग उस समय क्या सोच रहे थे, मुझे नहीं पता, पर मैंने उस समय मन-ही-मन कहा था, "माँ, तुम स्वयं को छिपाने की चाहे जितनी भी चेष्टा करो, पर ठाकुर की दया से मैं समझ गयी हूँ कि तुम स्वयं ही माँ भवतारिणी हो!"

मैंने देखा है कि ठाकुर के बारे में कुछ कहते समय माँ मानो किसी अन्य जगत् में चली जातीं। एक दिन वे ठाकुर के बारे में कह रही थीं – "दक्षिणेश्वर में जब मैं पहली बार उनके पास आयी, तब तो मैं 'भाव' 'समाधि' आदि कुछ समझती ही नहीं थी। देखती – ठाकुर सारी रात बैठे हुए हैं। एक अपूर्व ज्योति उन्हें चारों ओर से घेरे हुए है। उनके सभी अंग शान्त-स्थिर हैं। चेहरे पर एक अपूर्व हँसी खिली हुई है। मैं तो भयभीत हो जाती। संकुचित होकर बैठी रहती। समझ में नहीं आता कि क्या करूँ। शुरू में भांजे (हृदय) को बुलाती। वह आकर ठाकुर के कानों में माँ का नाम सुनाता। देखती – ठाकुर धीरे-धीरे स्वाभाविक अवस्था में आ जाते। रात में मुझे नींद नहीं आती – कुछ दिन बाद यह जानने पर ठाकुर ने मुझे नौबतखाने में भिजवा दिया। वैसे उन्होंने मुझे सिखा दिया था कि कैसा भाव होने पर कौन-सा नाम सुनाना होगा। मेरे लिये कितनी चिन्ता करते थे! कैसे मैं अच्छी तरह से रहूँ – इसकी वे चिन्ता किया करते। उनका कैसा प्रेम था! लोगों ने तो अफवाह फैला दिया था कि वे पागल हैं। मेरे माता-पिता को कितनी चिन्ता हो गयी थी! बाद में सब कुछ देखने के बाद वे लोग निश्चिन्त हुए थे।"

माँ के सान्निध्य में कई महीने महानन्द में बीत गये। उसके बाद आनन्द के दिन समाप्त हो गये। माँ गाँव चली गयीं, क्योंकि राधू गाँव जाने के लिये हठ कर रही थी। उस समय राधू गर्भवती थी। करीब वर्ष भर बाद जब माँ कोलकाता लौटीं, उस समय वे खूब अस्वस्थ थीं। इस कारण माँ से बातचीत करने का अधिक सुयोग नहीं मिला। कुछ दिनों बाद देखा कि माँ का स्वास्थ्य बिल्कुल भी ठीक नहीं हो रहा है। सरला दीदी को माँ की सेवा का बहुत-सा दायित्व सँभालना पड़ा। उन्हें प्राय: उद्बोधन में, माँ के पास ही रहना पड़ता था। देखकर मुझे लगता कि यदि मैं इस संसार-जाल में नहीं जकड़ी होती, तो मैं भी माँ की सेवा कर पाती। माँ का स्वास्थ ठीक न होने के कारण माँ का दर्शन प्राय: बन्द था।

माँ के लिये मन बड़ा दुखी रहता। एक दिन सरला दीदी हमारे घर आयीं। बोलीं, "माँ पहले से कुछ अच्छी हैं। अब माँ का दर्शन कर सकती हो।' अगले दिन मैं माँ का दर्शन करने गयी। देखा – माँ का शरीर खूब दुर्बल है। बातें करने में कष्ट हो रहा था, अधिक देर बैठ नहीं पाती थीं। कुछ देर तक माँ के पास बैठी-बैठी उन्हें देखती रही। आते समय प्रणाम करते ही माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखा और अपूर्व स्नेह के साथ मधुपूर्ण स्वर में बोली, "प्रसाद लेती जाना, बेटी।"

कुछ दिनों बाद माँ का शरीर और भी अस्वस्थ हो गया। माँ का दर्शन प्राय: बन्द ही हो गया। हम लोग वहाँ जाकर, दूर से ही उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करके चली आतीं। कभी-कभी माँ आखें खोलकर हमें देखतीं। ऐसी अवस्था में भी वे संकेत द्वारा गोलाप-माँ या सरला दीदी से सबको प्रसाद देने को कहतीं। एक दिन देखा – मुख्य द्वार के पास स्वयं शरत् महाराज खड़े हैं। उस दिन 'माँ के घर' में बहुत-से भक्त नर-नारी दीख पड़े। महाराज बोले, "कोई ऊपर मत जाइयेगा। माँ का स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक नहीं है।" मैं रोते-रोते घर लौट आयी। दो-एक दिन बाद वह भयानक अन्तिम दिन आ पहुँचा। सूचना पाकर मैं सुबह 'माँ के घर' गयी। लोगों की भीड़ लगी हुई थी। सभी की आँखें गिली थीं। महिलाएँ आर्तनाद कर रही थीं। मेरा भी सीना फट गया, रुलाई आने लगी। देखा – माँ के कमरे में माँ का भगवती तन फूलों से ढँका था। मुख ज्योतिर्मय – करुणा से परिपूर्ण था!

माँ को देखते ही मन भर जाता था। माँ से दीक्षा पाने का कितना सुयोग था! परन्तु उस समय दीक्षा लेने की बात वैसी मन में उठी नहीं। बाल-बच्चों को सँभालने में ही थक जाती। सोचती – दीक्षा लेकर पूजा-जप आदि कुछ नहीं कर सकूँगी। सरला दीदी से दो-एक बार चर्चा हुई। वे कहतीं, "उतावली मत होओ, समय होते ही सब होगा।" उसके बाद तो माँ चली ही गयीं। उसके बाद माँ के 'भारवाहक', 'वासुकी' शरत् महाराज के श्रीचरणों में आश्रय मिला। माँ को खोकर उनमें ही फिर से माँ को पाया था। ❑❑❑

साधना-कक्ष

संसार में रहने की कला

स्वामी वीरेश्वरानन्द

कभी-कभी लोग मुझसे प्रश्न करते हैं – श्रीरामकृष्ण स्वयं तो चले गये – श्रीमाँ को क्यों छोड़ गये?

श्रीमाँ ने उनके 'नरेन' (स्वामी विवेकानन्द) आदि शिष्यों को संघबद्ध करके रामकृष्ण मिशन का गठन किया था। वे ही इसकी प्राणकेन्द्र थीं। केवल इतना ही नहीं, मठ तथा मिशन की विभिन्न दुरूह समस्याओं का वे सहज भाव से समाधान कर देती थीं।

गृहस्थ लोगों को किस प्रकार जीवन यापन करना चाहिये, इस विषय में श्रीरामकृष्ण ने अनेक उपदेश दिये हैं। उन्होंने कहा है – बड़े घर की दासी मालिक के पुत्र के प्रति बड़ा स्नेह दिखाती है, मुख से कहती है, 'यह मेरा बड़ा दुलारा है', परन्तु वह मन-ही-मन जानती है कि वह उसका कोई नहीं है। उसका अपना बच्चा तो उसकी झोपड़ी में उसके लिये रो रहा है, उसका मन तो उसी के पास पड़ा रहता है। ठीक इसी प्रकार संसार में सबको 'मेरा'-'मेरा' कहना, परन्तु जान रखना कि एकमात्र भगवान ही अपने हैं। ठाकुर यह भी कहते थे कि नाव पानी में रहे तो कोई हानि नहीं, परन्तु पानी नाव में नहीं होना चाहिये। तुम संसार में रहो तो कोई हानि नहीं है, परन्तु संसार तुम्हारे भीतर न रहे। यही गृहस्थों का आदर्श है।

ठाकुर के भीतर बिन्दु मात्र भी संसार नहीं था। वे पूर्णरूपेण संसार के बाहर के व्यक्ति थे, इसीलिये गृहस्थों को इस तरह के उपदेश देने के बावजूद अपने जीवन में उन्हें रूपायित करके दिखाने का अवसर उन्हें नहीं मिला। इसीलिये लोग कह सकते हैं कि आदर्श को जीवन में पालन करना असम्भव है; क्योंकि श्रीरामकृष्ण ने तो ये बातें केवल मुख से कही हैं, अपने जीवन में आचरण करके तो दिखाया नहीं।

परन्तु माँ संसार में निवास करती थीं। घर में उनके भाई लोग घोर संसारी थे। माँ के एक भाई की पत्नी भी पगली थी तथा हमेशा बीमार रहती थी। जयरामबाटी में माँ इन्हीं लोगों को साथ लेकर गृहस्थों के समान तरह-तरह की अशान्ति के बीच रहतीं। इसके अतिरिक्त माँ के चरणों के अभिलाषी भक्तों का वहाँ ताता लगा रहता था। उन लोगों के ठहरने तथा खाने-पीने की व्यवस्था में माँ को काफी परिश्रम करना पड़ता था। बाहर से देखने पर ऐसा लगता मानो वे एक साधारण गृहस्थ महिला के समान घर के सारे कार्य त्रुटिहीन रूप से किये जा रही हैं – परन्तु उनका मन पूर्णत: निर्लिप्त रहता था। वे अपने स्वयं के जीवन द्वारा दिखा गयीं कि गृहस्थ-जीवन के आदर्श विषयक श्रीरामकृष्ण के उपदेशों को किस प्रकार अपने जीवन में रूपायित किया जा सकता है।

इस संसार के सारे दु:खों की सृष्टि 'मैं' और 'मेरा' के भाव से होती है। 'मैं' और 'मेरा' का भाव छोड़े बिना मन को ईश्वर में नहीं लगाया जा सकता। 'मैं'-'मैं' को त्यागकर 'तुम'-'तुम' कहे बिना मन से संसार को नहीं निकाला जा सकता। 'मेरा पुत्र' 'मेरे पति' आदि न सोचकर उनकी ईश्वर-बोध से सेवा करनी होगी। बृहदारण्यक उपनिषद् में है – **न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति**। (बृ. २/४/५) – "पत्नी जो पति से प्रेम करती है, वह पति के लिये नहीं, अपितु आत्मा के लिये ही पत्नी पति से प्रेम करती है। पत्नी के लिये कोई पत्नी से प्रेम नहीं करता, बल्कि वह आत्मा से प्रेम करता है, इसीलिये पत्नी से प्रेम करता है।"

पति में और पत्नी में आत्मा होने के कारण ही वे एक-दूसरे को प्रिय लगते हैं। स्वामीजी ने जो 'शिवज्ञान से जीवसेवा' करने को कहा है, उसमें भी यही तत्त्व है। सबके भीतर नारायण हैं, इसी बोध के साथ गृहस्थी में रहना होगा।

ठाकुर अपने 'नरेन' आदि शिष्यों से बड़ा प्रेम करते थे। एक दिन स्वामीजी उनसे बोले – "आप दिन-रात 'नरेन', 'नरेन' करते हैं। आगे चलकर आपकी जड़भरत जैसी अवस्था हो जायेगी।" बालक-स्वभाव ठाकुर ने मन्दिर में जाकर जगदम्बा से पूछा। माँ ने बता दिया – "तू उसे साक्षात् नारायण देखता है, इसीलिये प्रेम करता है! जिस दिन तू उसमें नारायण को नहीं देख पायेगा, उस दिन उसका मुख देख ही नहीं सकेगा।" इसी नारायण-ज्ञान के साथ सबसे प्रेम करना ही मूल बात है।

हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। इसके फलस्वरूप मन में भाँति-भाँति की कामनाओं के बुलबुले उठते रहते हैं। उसी से लोभ, क्रोध आदि उत्पन्न हो रहे हैं। इसके फलस्वरूप हम लोग अपनी विचार-बुद्धि को खो बैठे हैं। सर्वदा विचार करते हुए चलना होगा; मन से कामनाओं को दूर किये बिना साधन-भजन नहीं होता। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को ध्यानयोग का उपदेश दे रहे थे, तब अर्जुन ने कहा था – "यह मन वायु से भी अधिक चंचल है, परन्तु अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा इसे वश में लाना सम्भव है। मैंने तुम्हें ध्यानयोग का जो उपदेश दिया है, उसकी साधना बिल्कुल भी असम्भव नहीं है।" (गीता, ६/३५)

मनुष्य का मन एक तालाब के समान है। तालाब का जल जब स्थिर रहता है, तब उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। परन्तु तालाब के जल में एक पत्थर फेंकते ही उसमें तरंगे उठने लगती हैं। तब उसमें चाँद का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से दिखायी नहीं देता। कामना ही वह पत्थर है। हमारे मन रूपी तालाब में कामना-रूपी पत्थरों से निरन्तर तरंगें उठ रही हैं और इसके फलस्वरूप हम अपने स्वरूप को देख या जान नहीं पा रहे हैं। इसी मन को शान्त तथा संयत करते ही आत्मानुभूति प्राप्त करना सम्भव हो जाता है। अभ्यास तथा वैराग्य की सहायता से मन शान्त होता है। जैसे हवा न चलने पर दीपक की शिखा निष्कम्प रहती है, वैसे ही कामना न रहे तो मनुष्य का मन भी उसी प्रकार निष्कम्प हो जाता है। योगीगण ऐसे ही मन के द्वारा आत्मोपलब्धि करते हैं। आत्मोपलब्धि का अर्थ है – हम स्वरूपत: जो हैं, उसी की उपलब्धि करना। हम स्वरूपत: आत्मा या ब्रह्म हैं। इस स्वरूप-अनुभूति – स्वयं को आत्मा या ब्रह्म के रूप में अनुभूति को ही आत्मोपलब्धि कहते हैं।

मनुष्य मरना नहीं चाहता – इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि मृत्यु उसके स्वभाव का विरोधी है – वह जन्म-मृत्यु से रहित आत्मा है। आत्मा 'सत्' अर्थात् सर्व काल में है और अनश्वर है। यह बोध उसमें विद्यमान है, इसीलिये मनुष्य मरना नहीं चाहता।

मनुष्य अज्ञान से घृणा करता है; वह सब कुछ जानना चाहता है। मनुष्य के मन में ज्ञान, विज्ञान, दर्शन आदि सब कुछ जानने के लिये असीम जिज्ञासा है। इसका कारण यह है कि उसकी वास्तविक सत्ता 'चित्' अर्थात् ज्ञान-स्वरूप है – यह बोध उसमें विद्यमान है।

मनुष्य सर्वदा दु:खों से बचना चाहता है और सुखों की खोज करता है। उसके सभी कार्यों के बीच उसके आनन्द की यह खोज चलती रहती है। इसका कारण यह है कि वह आनन्द-स्वरूप है – यह बोध उसमें विद्यमान है।

अपने इस सच्चे स्वरूप को जानना – सत्-चित्-आनन्द ही हमारी सच्ची अवस्था है – इसे जान लेना ही आत्म-अनुभूति या ईश्वर-प्राप्ति है। ❑❑❑

(बंगला पुस्तक 'भक्त्या माम् अभिजानन्ति' से अनूदित)
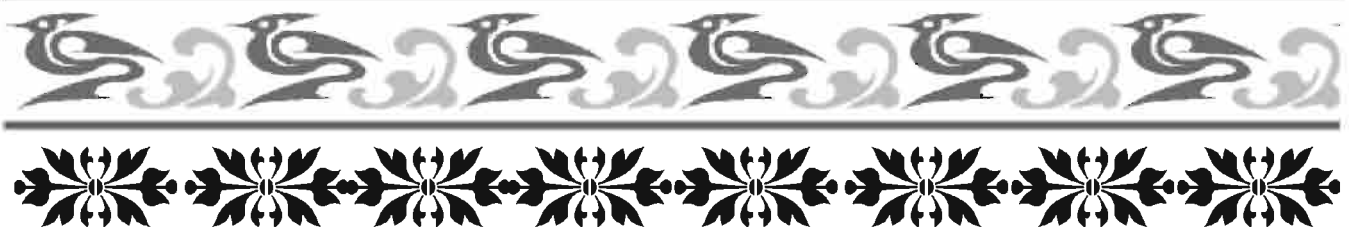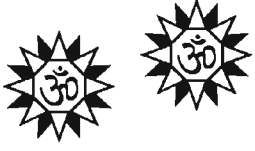
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१४)
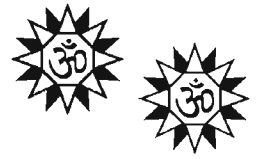
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

चतुर्थ अध्याय
कैवल्य पाद

कैवल्य अर्थात् पूर्णमुक्ति के सम्बन्ध में धारणा होना व्यक्ति के लिये अत्यन्त कठिन है। सामान्यत: हिन्दुओं में जो लोग सदाचरण पूर्वक जीवन-यापन करते हैं, उनमें से कोई-कोई मुक्ति की बात कहते हैं। किन्तु उनलोगों के साथ थोड़ी-सी बातचीत करने पर ही समझ में आ जाता है कि उन लोगों ने जीवन में जो दुख पाया है, उन दु:खों से कैसे मुक्त हुआ जाय, ऐसे किसी सुखप्रद स्थान की कल्पना वे लोग किये रहते हैं। मानव-मन की प्रबल वृत्ति सुख की आकांक्षा है। वे लोग उसी स्थान के प्राप्ति की अभिलाषा करते हैं, जहाँ जाकर वे सुख से रह सकें। इसीलिये विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों के मन में 'परलोक' और 'स्वर्ग' के सम्बन्ध में अनेकों प्रकार की विचित्र धारणायें हैं। अत: सुख के समबन्ध में – अर्थात् मनुष्य कितनी मात्रा में सुख-भोग कर सकता है, इसी के अनुसार ही उसके जीवन का आदर्श निर्मित हुआ रहता है।

परलोक की धारणा के अनुसार हम तीन प्रकार के भक्तों को पाते हैं। प्रथम स्तर के भक्त की धारणा होती है कि अपने-अपने धर्मानुसार सत्कर्म करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, उस स्वर्ग की धारणा भी किन्हीं दो व्यक्तियों की एक जैसी नहीं हो सकती। क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के स्वभाव में असीमित विचित्रता, विभिन्नता होती है। इस विचित्रता की कोई सीमा नहीं है। द्वितीय स्तर के भक्त ऐसी कल्पना करते हैं कि वे मृत्यु के बाद भगवान के पास जाकर रहेंगे, भगवान के सन्निकट रहेंगे। इस कल्पना की विचित्रता की भी कोई सीमा नहीं है। श्रीराम के भक्त मृत्यु के बाद चैतन्मय अयोध्या में जायेंगे और श्रीकृष्ण के भक्त चैतन्मय नित्य वृन्दावन जाने की आशा करते हैं। भगवान नारायण के भक्त यह कल्पना करते हैं कि बैकुण्ठ नामक किसी अत्यन्त सुन्दर रमणीय स्थान पर उनके इष्ट देवता माँ लक्ष्मी के साथ मनुष्य की तरह ही रहते हैं। वहाँ भी भोजन बनता है और भक्तगण श्रीनारायण का प्रसाद पाते हैं। श्रीरामकृष्ण एक भक्तिमती महिला को 'बैकुण्ठ की रसोईदारी' (भोजन बनाने वाली) कहते थे। तृतीय स्तर के भक्तों अर्थात् ज्ञानियों को कुछ भी देखने-सुनने का नहीं रहता। वे लोग मात्र एक वस्तु अपने (आत्मतत्त्व) को ही लेकर इतना विभोर रहते हैं कि उन्हें कोई अभाव या किसी चीज की आवश्यकता का बोध नहीं होता। उसी अवस्था को 'निर्वाण' कहते हैं। 'वान' शब्द का अर्थ देह होता है। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ जहाँ स्थूल, सूक्ष्म या कारण कोई भी शरीर नहीं रहता है।

सर्वत्र सर्वदा व्यक्ति के मन में स्वर्ग की कल्पना स्वाभाविक है। किन्तु स्वर्ग भगवान के साथ आनन्द करने का स्थान है, इसे बहुत कम लोग ही जानते हैं। श्रीमद्-भगवद्गीता में उल्लेख है – हजारों मनुष्यों में कभी कोई एक आध्यात्मिक साधना में प्रवृत होता है। इसी प्रकार हजारों साधकों में कभी कोई एक साधक पूर्णज्ञान प्राप्त करता है।[१] प्राचीन ऋषि-मुनि जन-साधारण में ज्ञान के संबंध में प्रचार-प्रसार की आवश्यकता नहीं समझते थे। क्योंकि जीवात्मा सम्पूर्णत: संसार देखे बिना, किसी प्रकार भी मुक्ति-प्राप्त करना नहीं चाहती। जिनके भोग का अन्त नहीं हुआ है, किन्तु मुक्ति के प्रति थोड़ा-सा अनुराग, प्रेम है, वैसे साधक कुछ सत्त्वगुणी स्वभाव के होते हैं। किन्तु वे लोग आसानी से, बिना श्रम किये सुख पूर्वक रहने की इच्छा से सभी प्रकार के कर्मों का त्याग कर ब्रह्म-चिन्तन करने के बहाने तामसी, आलसी हो जाते हैं। रजोगुणी साधक विभिन्न प्रकार के कठोर कर्म करके यश-प्राप्ति के प्रयास में अध:पतित हो जाते हैं। तमोगुणी साधक मुक्ति-प्राप्ति हेतु प्रयास करने के नाम से कर्त्तव्य-कर्म की उपेक्षा करके, अधोगामी, पतित हो जाते हैं। इन सब साधकों के बिल्कुल पतित न होने पर भी भोग-मार्ग पर होने के कारण, जो कुछ भी थोड़े ज्ञान होने की आशा थी, वह भी नष्ट हो जाती है।

भारत की एक विषम संकटकालीन सामाजिक परिस्थिति में ईश्वरावतार बुद्धदेव ने सर्वप्रथम मानव-जाति में 'निर्वाणवाद'

---

१. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वत:।। गीता ७/३

ब्रह्मज्ञान के अधिकारी दुर्लभ हैं और ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति कठिन है। इसी बात को भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं। पूज्यपाद स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज यहाँ गीता की बात का ही उल्लेख कर योगशास्त्र में वर्णित कैवल्य-प्राप्ति के विषय को अधिक सुस्पष्ट करना चाहते हैं। इस उल्लेख के द्वारा उन्होंने वेदान्त और योग के घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर भी इशारा किया है।

का प्रचार किया। स्वामीजी ने बुद्धदेव की महानता की बात कई स्थानों पर उत्साह से दृढ़तापूर्वक कही है और उनके धर्म- प्रचार से मनुष्य की जो क्षति हुई है, उसका भी उल्लेख उन्होंने सुस्पष्ट भाषा में किया है। असली बात है –

''सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता: ।।''[२]

भारत में ऋषियों ने दीर्घकाल तक मानव-तत्त्व का अनुसन्धान करके उसको जान लिया था, जिसको जान लेने पर और अधिक कुछ जानना शेष नहीं रहा जाता। उन लोगों ने मानव-समाज को चार आश्रमों में बाँटकर भोग से अभ्युदय (भौतिक समृद्धि) और अभ्युदय से नि:श्रेयस्-प्राप्ति (आध्यात्मिक विकास) की व्यवस्था की थी। जो लोग नि:श्रेयस् प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये उन लोगों ने वैज्ञानिक पद्धति से निर्वाण-प्राप्त करने का एक सार्थक, सफल मार्ग का आविष्कार किया था। महर्षि पतंजलि ने उसी मार्ग का प्रचार-प्रसार करने के लिये 'योगसूत्र' की रचना की थी। आध्यात्मिक साधना के विषय में यह एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह केवल तात्त्विक या Theoretical (सैद्धान्तिक) ग्रन्थ नहीं है। यह केवल प्रायोगिक है। इसमें आध्यात्मिक साधना के केवल प्रायोगिक, व्यावहारिक दृष्टिकोण को ही महर्षि पतंजलि ने दिखाया है। शरीर-मन और बुद्धि को कैसे सजाकर, संयमित कर, किस प्रकार उसे साधना में परिणत किया जाता है, उसे बड़े सुन्दर ढंग से उन्होंने समझा दिया है। मन सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भूमि पर आरोहण करके क्या अनुभूति प्राप्त करता है, उसे 'योगसूत्र' में स्पष्ट रूप से कहा गया है। मनुष्य की स्वयं की आत्मशक्ति बढ़ते-बढ़ते सृष्टि का सम्पूर्ण रहस्य कैसा है, उसे वह ज्ञात कर लेता है और विश्व की सम्पूर्ण शक्ति के साथ तादात्म्य, एक होकर कैसे जीव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होता है, उसे महर्षि पतंजलि ने ठीक-ठीक, अच्छी तरह से समझाया है। अन्त में ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञाता सब तरह से कितना विराट है और वही ज्ञान-प्राप्ति के साधना की अन्तिम सीमा है, इसे यहाँ उन्होंने दिखाया है। यहाँ 'ज्ञान-प्राप्ति' का तात्पर्य 'स्वस्वरूप बोध' समझना होगा।

वेदान्त कहता है – निर्गुण ब्रह्म अपनी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से, स्वयं को कई रूपों में विभक्त कर, अनेक रूप धारण कर सृष्टि के रूप में परिणत हुये हैं और सृष्टि का प्रत्येक प्राणी आत्म-विस्मृत होकर, अपने स्वरूप को भूलकर तथा इस संसार को देखकर इधर-उधर भटक रहा है। इन अनन्त प्राणियों में जो विवर्तित होकर, पुन: वापस आकर जिज्ञासू बन सकता है, वही इस योग-प्रणाली का अवलम्बन कर पूर्णत्व-प्राप्ति के परिणामस्वरूप ब्रह्म के सगुण-निर्गुण सभी भावों की अनुभूति कर सकता है।

जन्मौषधिमन्त्र-तप:समाधिजा: सिद्धय: ।।१ ।।

– सिद्धियाँ या शक्ति जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि, इन पाँच उपायों से प्राप्त होती हैं।

व्याख्या – मानव के जीवन में प्रकृति के साथ निरन्तर युद्ध चल रहा है। हमलोग शरीर-रक्षा हेतु अन्न-वस्त्र के लिये नित्य जो कार्य करते हैं, वह तो प्रकृति से आवश्यक वस्तु को ग्रहण करना है। यह विज्ञान की सहायता से बढ़कर कितना अधिक विस्तृत हो गया है, उसे सभी लोग देख रहे हैं। प्राचीन काल में प्रकृति के ऊपर अधिकार प्राप्त करने की जो चेष्टा की गयी थी, उसे ही 'योग' कहते हैं। मानसिक शक्ति की सहायता से रोग-बीमारी ठीक करना, दूरवर्ती स्थान की सूचना लाना, आदि अनेकों प्रकार की अद्‌भुत शक्ति प्राप्त कर मानव स्वयं शक्तिमान हो सकता है और दूसरे का दु:ख थोड़ा दूर कर सकता है। इस प्रकार की अलौकिक शक्ति-प्राप्ति को ही 'सिद्धि' कहते हैं। पूर्वजन्मों के संस्कार के कारण कोई-कोई इस सिद्धि को लेकर ही जन्म लेते हैं। वर्तमान में जिस प्रकार औषधि के द्वारा मनुष्य को बेहोश कर शल्य-चिकित्सा (ऑपरेशन) किया जाता है, इसी प्रकार पहले भी लोग अनेकों प्रकार की औषधियाँ जानते थे। मन्त्र के बल से अप्राप्त वस्तु को प्राप्त कर लेना और विभिन्न प्रकार की कठोर तपस्या करके अलौकिक शक्ति प्राप्त करने की बात अभी भी कहीं-कहीं सुनने को मिलती है। किन्तु केवल योग-मार्ग से समाधि के द्वारा जिन शक्तियों का उदय होता है, मनुष्य के लिये सबकी अपेक्षा वे ही अधिक उपकारी हैं।

समाधि, तपस्या और मन्त्र-जप – इन तीनों उपायों से सिद्धि प्राप्त होती है, इससे पहले ही कहा गया है। किसी-किसी व्यक्ति में जन्म से ही सिद्धि देखी जाती है। किसी-किसी पदार्थ या वस्तु में मनुष्य की सिद्धाई अर्थात् Psychic Power (मानसिक शक्ति) की बात सुनी जाती है। 'सिद्धि' के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है – (साधना में) 'विकास का मील का पत्थर।' साधना में किसी एक सिद्धि की प्राप्ति होने पर साधक का उत्साह बढ़ता है, किन्तु सामान्यत: देखा जाता है कि जो लोग चित्तशुद्धि हेतु साधना के रूप में निष्काम कर्म, ईश्वर उपासना और आध्यात्मिक शास्त्रों का, ग्रन्थों का अध्ययन न कर योग में प्रवृत्त होते हैं, संलग्न होते हैं, उनलोगों को कोई सिद्धि मिलने पर, वे लोग आध्यात्मिक दिशा में अधिक अग्रसर न होकर, उस सिद्धि को लेकर ही मतवाला हो जाते हैं और किसी-किसी का तो

(शेष अगले पृष्ठ पर)

२. श्रीमद्‌भगवदगीता से श्रीभगवान के मुख से निकली वाणी के इस अंश का उद्धरण देकर स्वामी प्रेमेशानन्द जी यह समझना चाहते हैं कि स्वामीजी जब बुद्धदेव की आलोचना किये हैं, वह आलोचना बुद्धदेव की नहीं, बल्कि कर्म के साथ जो दोष स्वभावत: संयुक्त रहता है उसका है। श्रीकृष्ण उसी बात को कहते हैं – ''सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता: ।। (गीता १८/४८) – जैसे अग्नि में स्वाभाविक रूप से धुँआ रहता है, वैसे ही सभी कर्म त्रिगुणात्मक होने के कारण दोषपूर्ण होते हैं।

क्रोध पर विजय (८)

स्वामी बुधानन्द

(हमें अपने जीवन में प्राय: ही अपने तथा दूसरों के क्रोध का सामना करना पड़ता है, परन्तु हम नहीं जानते कि क्रोध क्या है, इसकी उत्पत्ति कैसे और कहाँ होती है, और उस पर कैसे नियंत्रण किया जाय। इसी विषय को लेकर रामकृष्ण संघ के एक विद्वान् संन्यासी स्वामी बुधानन्द जी ने १९८२ ई. में रामकृष्ण मिशन के दिल्ली केन्द्र में अंग्रेजी में एक व्याख्यान-माला प्रस्तुत की थी। बाद में ये व्याख्यान मद्रास मठ के आंग्ल मासिक 'वेदान्त-केसरी' में धारावाहिक रूप से और अन्तत: एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए। आधुनिक जीवन में उनकी उपादेयता को देखते हुए 'विवेक-ज्योति' में हम उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

मैत्री के आधार

यदि आप क्रोध पर विजय पाना चाहते हैं, तो दूसरों में क्रोध का कारण मत बनिये। तात्पर्य यह कि हमें ऐसे ढंग से सोचना, बोलना तथा कर्म करना सीखना होगा; जो एकता, शान्ति तथा मैत्री को बढ़ावा देते हों और दूसरों में क्रोध को न भड़काते हों। जो व्यक्ति अपने पड़ोसी के घर में आग लगाता है, वह उसे अपने घर तक पहुँचने से नहीं रोक सकता।

बुद्ध ने बताया है कि यह मैत्री, चेतना के छह अवस्थाओं पर निर्भर करती है, जो निम्नलिखित हैं –

(१) अन्य व्यक्तियों के प्रति सद्भावपूर्ण कार्य

(२) सच्चे हृदय से कहे गये सद्भावपूर्ण शब्द

(३) सच्चे हृदय से पोषित किये गये सद्भावपूर्ण भाव

(४) रोटी के आखिरी टुकड़े तक, जो कुछ भी तुम्हारे पास है, उसको दूसरों के साथ मिल-बाँटकर उपयोग करना

(५) विशुद्ध गुणों से युक्त अपने उच्चतर जीवन को दूसरों के साथ मिलकर जीना

(६) प्रेम के उत्कृष्ट रक्षाकारी नीति के द्वारा अपने आसपास की सारी बुराइयों को दूर करना

इनका अभ्यास आपसी सामंजस्य, मैत्री तथा प्रेम की ओर ले जाता है। इनमें से प्रत्येक कदम अगले कदम तक ले जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने स्वभाव में सत्त्वगुण का प्राबल्य लाने में सफल हो जाता है और चेतना की इन छह अवस्थाओं का अभ्यास करता है, तो न वह स्वयं क्रोधित होगा और न दूसरों में ही क्रोध की सृष्टि करेगा।

क्रोधरहित जीवन की तैयारी

किसी भी साधना-प्रणाली को अपने स्वभाव में दृढ़ता-पूर्वक बैठाने के लिये, हमें उसको अपने दैनन्दिन जीवन में आत्मसात् करना होगा। हमारे लिये यह जानना आवश्यक है कि हम अपने दैनन्दिन जीवन की धारा के भीतर छिपे हुए क्रोधरूपी चट्टानों से बचते हुए कैसे अग्रसर हों। कुछ उपयोगी व्यावहारिक उपाय इस प्रकार हैं –

(१) प्रात:काल अपने घर के एकान्त में चुपचाप बैठने की आदत डालो। अपने मन में पूरे दिन के दौरान सम्भावित सभी परिस्थितियों तथा सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों के बारे में विचार करो। उन सभी अनुकूल तथा प्रतिकूल भावों, उत्तेजनापूर्ण आवेगों, कामनाओं तथा झल्लाहटों की कल्पना करो, जिनके सम्मुखीन होना पड़ सकता है। इसके बाद क्रोध तथा अन्य हानिकर भावनाओं के बुलबुलों को अवांछित मात्रा तक बढ़ने के पूर्व ही, पहले से ही उनका उदय होते ही नाश करने की तैयारी कर लो। यदि तुम ऐसा करो, तो शायद ही कभी सहसा ऐसी परिस्थिति में पड़ोगे, जिसमें तुम पहले क्रिया और बाद में विचार करते हो। यहाँ उद्देश्य है – उत्तेजित हुए बिना ही विस्फोटक परिस्थिति से गुजरना,

---

पिछले पृष्ठ का शेषांश

पतन होते भी देखा जाता है।

सिद्धि दो प्रकार की होती है – पहली ज्ञानात्मक और दूसरी क्रियात्मक। पहली प्रकार की सिद्धि में दूरदर्शन, दूरश्रवण और दूसरे के अन्तस्थ विचारों को समझने की क्षमता, शक्ति मिलती है। कोई-कोई अपने और दूसरे सभी के अतीत और भविष्य की बातें निश्चित रूप से ठीक-ठीक जान सकते हैं। दूसरी प्रकार की सिद्धि साधारणत: छह प्रकार की होती है – मारण, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन, स्वस्त्ययन और विद्वेषण।

'सिद्धि' की कोई सीमा नहीं है। अष्टसिद्धि की बात तो सभी जानते ही हैं। अष्टांग योग की साधना के द्वारा ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जिसे न किया जा सके, ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसे न जाना जा सके। यद्यपि आज योग-साधना के सम्बन्ध में देश में कुछ भी प्रचलित नहीं है, तथापि रोग ठीक करना, भविष्य बताना, आदि के सम्बन्ध में साधारण जनता, यहाँ तक कि शिक्षित लोग भी विश्वास करते हैं। इसके कारण बहुत से लोग ठगे जाते हैं और कहीं किसी के पास थोड़ी सिद्धि है कि नहीं, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है।

❖ (क्रमश:) ❖

नाराज हुए बिना ही विक्षोभकारक लोगों से मिलना। व्यक्ति को सर्वदा सबके प्रति सद्व्यवहार युक्त मित्रता के भाव का विकास करना चाहिये। यह दृष्टिकोण व्यक्ति की स्नायुओं को उत्तेजित करने के स्थान पर उन्हें तनावमुक्त करता है। व्यक्ति के कटाक्षों को नजरन्दाज करते हुए, एक सजीव हास-परिहास का भाव रखना चाहिये और हर परिस्थिति के रोचक पहलू को देखने का प्रयास करना चाहिये।

श्रीकृष्ण द्वारा सुझाया गया वाङ्मय तप अर्थात् वाणी का तप, क्रोध पर विजय पाने में काफी सहायक है। व्यक्ति को घर में और बाहर – सर्वत्र ही अप्रिय बातें कहने से बचना चाहिये। हमें ऐसे विवादास्पद विषयों पर भी चर्चा करने से बचना चाहिये, जिन पर लोग बड़ा मतान्धतापूर्ण विचार रखते हों। वाङ्मय तप का रहस्य है – **सत्यम्-हितम्-प्रियम्** (सत्य, हितकर तथा आनन्दप्रद) वाणी का प्रयोग करना। सुनो अधिक, बोलो कम और उतना ही, जितना कि आवश्यक हो। विशेषकर अप्रिय निन्दा का सामना करते समय हमें एकाग्र चित्त से सुनना चाहिये, क्योंकि निन्दा करनेवाला हमारे चरित्र के विषय में कुछ मूल्यवान सत्य प्रकट कर सकता है।

(२) क्रोध आने पर आप क्या करें? अपने क्रोध में ईंधन मत डालें। इस प्रकार की विचार-शृंखला क्रोध में ईंधन का काम करती है – "यदि उसने फिर कभी मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया, तो मैं इस प्रकार मजा चखाऊँगा। यदि उसने दुबारा मेरा अपमान किया, तो मैं उसे ऐसा सबक सिखाऊँगा कि वह जिन्दगी भर नहीं भूलेगा।" जैसे पेट्रोल आग को भड़काती है, वैसे ही क्रोध ही क्रोध को भड़काता है। जैसे पानी आग को बुझा देती है, वैसे ही सौजन्यता क्रोध को ठण्डा कर देती है। इसीलिये बुद्ध के इस उपदेश का पालन कीजिये – 'मनुष्य क्रोध को सौजन्यता से जीते।" यदि क्रियात्मक दृष्टि से देखें, तो सौजन्यता एक बम से अधिक शक्तिशाली है।

भगवान बुद्ध अपने एक उपदेश में बताते हैं कि यदि तुम अपने अहंकार को दूर न करो, तो अपने क्रोध को भी दूर नहीं कर सकते। इन सबके मूल में गर्व या अहंभाव ही है। अहंकार का नाश होने पर क्रोध भी निर्मूल हो जाता है। धैर्यपूर्वक क्रोध को सहन कीजिये और विनम्रता के द्वारा क्रोध को जीत लीजिये।

(३) अल्प मात्रा में या विवेकपूर्ण ढंग से भी क्रोध का उपयोग मत करो। जैसे सीमित पवित्रता नहीं होती, वैसे ही न्यायसंगत क्रोध जैसा कुछ नहीं होता। जैसे एक कुशल चालक पथभ्रष्ट हो रहे रथ को नियंत्रित कर लेता है, वैसे ही प्रकट हो चुके क्रोध को कुशलतापूर्वक नियंत्रित कर लेना होगा।

बुद्ध चेतावनी देते हैं – "अपने शारीरिक क्रोध से सावधान रहो और अपने शरीर पर नियंत्रण रखो। अपनी जिह्वा के क्रोध से सावधान रहो और अपनी जिह्वा को नियंत्रण में रखो। अपने मानसिक क्रोध से सावधान रहो और अपने मन को नियंत्रण में रखो।"

क्रोध की विस्फोटक परिस्थितियों का सामना

परन्तु उस परिस्थिति में हम क्या करें, जब हम अज्ञात रूप से और सहसा पाते हैं कि 'मेरे क्रोध' की अवस्था से आगे बढ़कर हम क्रोध-स्वरूप बन चुके हैं?

उस समय, वही करो, जो ईसा के शिष्यों ने किया था। वे लोग जिस नौका में यात्रा कर रहे थे, वह एक तूफान में फँस गयी थी और ईसा मसीह उसी में सो रहे थे। उन लोगों ने जाकर निद्रामग्न ईसा को पुकारा। ईसा ने उठकर तूफान को डाँटा और फिर सब कुछ शान्त हो गया। अत: जब तुम अपने अन्दर उठे हुए क्रोध के तूफान में पड़कर हचकोले खा रहे हो, तब अपने हृदय में सोये हुए ईश्वर को पुकारो। वे जागेंगे और क्रोध के तूफान को शान्त कर देंगे।

क्रोध को शान्त करने का दूसरा उपाय है – उसके विपरीत भाव-तरंग उठाना – क्रोध की तरंग को शान्त करने के लिये प्रेम की तरंग उठाओ। यह उपाय पतंजलि द्वारा सुझाया गया है और ईसाई सन्तों को भी ज्ञात था।

इन दो उपायों का जब ठीक ढंग से अभ्यास किया जाता है और उचित रूप से प्रयोग किया जाता है, तो यह हमें विस्फोटक परिस्थिति से सुरक्षित रूप से निकाल लाता है। कुछ अन्य सुझाव इस प्रकार हैं –

जिस व्यक्ति के प्रति क्रोध का भाव व्यक्त किया गया हो, तत्काल वहीं पर उसके प्रति विनय-भाव का प्रदर्शन काफी सहायक हो सकता है।

सूर्यास्त के पहले ही अपना क्रोध शान्त कर लो। क्रोध को अपने हृदय पर अधिकार मत करने दो।

क्रोध के क्रियान्वन में विलम्ब करो। यदि तुमने क्रोधपूर्ण दृष्टि से देखा है और उस पर नियंत्रण नहीं कर सके हो, तो अपना मुख खोलकर कटु शब्दों से प्रहार मत करो। यदि तुम्हारे मुख से कटु शब्द निकल चुके हों और तुम उन पर नियंत्रण नहीं कर सके, तो कम-से-कम अपना हाथ उठाकर उस व्यक्ति पर आघात मत करो। परन्तु अहा, यदि तुमने उस पर आघात कर दिया है, तो तत्काल पूरी सच्चाई, पश्चाताप तथा विनम्रता के साथ उससे क्षमा माँग लो।

भगवान ने स्वयं ही घोषणा की है कि वे सभी जीवों के हृदय में निवास करते हैं। ईश्वर के इन सजीव मन्दिरों के प्रति इस भावना से अपने क्रोध का प्रदर्शन मत करो, मानो वे कोई निर्जीव वस्तु हों।

विस्फोटक परिस्थितियों की पुनरावृत्ति से कैसे बचें

(१) शान्ति के क्षणों में अपनी आन्तरिक चेतना को प्रार्थनायुक्त मधुरता, प्रशान्ति, दीनता तथा विनम्रता से परिपूर्ण कर लो।

(२) क्रोध को नियंत्रित करने में असफल होने पर स्वयं के प्रति कठोर, हिंसक तथा हड़बड़ी का व्यवहार न करो, बल्कि स्वयं के प्रति विनम्रता, परन्तु ईमानदारी का बर्ताव करो।

(३) दूसरों में दोष ढूँढ़ना छोड़ दो। बल्कि अपने स्वयं के दोष ढूँढ़ो। उनसे छुटकारा पाने के लिये ईश्वर से सहायता माँगो। परन्तु अपने या दूसरों के दोषों पर अधिक देर तक चिन्तन मत करो।

(४) अहंकार, आत्म-समर्थन तथा स्वार्थपरता को निकाल बाहर करो।

(५) दूसरों के लिये संवेदना का विकास करो। यह समझने का प्रयास करो कि लोग क्योंकि विशेष प्रकार से बोलते-चालते और कार्य करते हैं। जो लोग तुम्हारे क्रोध के कारण बनते हैं, उनके कल्याण तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रार्थना करो।

(६) संघर्ष की अवस्था में अन्तर्निहित मूल्यों की खोज करो। उच्चतर की प्राप्ति के लिये निम्नतर का बलिदान कर दो।

(७) स्वयं को सजगता से आवृत्त कर लो, ताकि कोई भी बुराई तुम्हारे अन्दर से बाहर या बाहर से अन्दर आना-जाना न कर सके।

(८) मधुर सहनशीलता का विकास करो।

क्रोधहीनता में कैसे प्रतिष्ठित हों

व्यक्ति की एक ऐसी भी अवस्था है, जिसमें कहा जा सकता है कि उसने क्रोध पर पूर्ण अधिकार पा लिया है। आत्मा या ब्रह्म की अनुभूति होने के बाद व्यक्ति अक्रोध की अवस्था में दृढ़-प्रतिष्ठ हो जाता है। गीता के 'कर्म-संन्यास-योग' तथा 'आत्मसंयम-योग' नामक पाँचवे तथा छठे अध्याय में इस अवस्था को प्राप्त करने की प्रणाली बतायी गयी है। जब व्यक्ति को स्वयं की सबमें और सबकी स्वयं में अनुभूति हो जाती है, तो वह क्रोधित होने की प्रवृत्ति को सदा-सर्वदा के लिये खो बैठता है। वह क्रोध के अतीत हो जाता है और शान्ति तथा समन्वय में सु-प्रतिष्ठित हो जाता है।

उपसंहार

गीता के छठे अध्याय में वर्णित उन्नत व्यक्ति के प्रेरणापूर्ण वर्णन के साथ हम अपने विषय का उपसंहार कर सकते हैं –

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। ६/२९।।

– योग में स्थिर हुए चित्तवाला तथा सर्वत्र समदृष्टि (ब्रह्मभाव) रखनेवाला योगी, समस्त प्राणियों में विराजित अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में भी सभी प्राणियों को देखता है ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।६/३१।।

– जो सभी (वस्तुओं तथा प्राणियों) में मुझे देखता है और सबको मुझमें (स्थित) देखता है, मैं उससे कभी दूर नहीं होता और न ही वह कभी मुझसे दूर होता है ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ६/३२

– जो मेरे साथ एकत्व में स्थित होकर, मुझ सर्व प्राणियों में विराजमान की सब प्रकार से उपासना करता है, वह योगी किसी भी अवस्था में रहकर मुझमें ही निवास करता है । हे अर्जुन, जो सबके सुख अथवा दुःख को अपने ही सुख-दुःख के समान बोध करता है, उसे परम योगी कहते हैं ।

श्रीकृष्ण जिसे परम योगी कहते हैं, केवल वैसी अवस्था प्राप्त हुआ व्यक्ति ही फिर कभी क्रोध के द्वारा आन्दोलित नहीं होता। उसकी दृष्टि में किसी के 'पराये' होने का भ्रम सदा-सर्वदा के लिये दूर हो चुका है, क्योंकि उसके लिये नाराज होने के लिये नाराज होने को कोई 'पराया' है ही नहीं। सिद्धान्त के रूप में यह उन्नत अवस्था सबके लिये प्राप्य है; और जो लोग पूर्ण योगी बनने में सफल हो जाते हैं, उन्हें यह अवस्था वास्तविक रूप से प्राप्त हो जाती है। वे ही लोग चिर शान्ति और शाश्वत आनन्द के अधिकारी होते हैं। ❖ **(समाप्त)** ❖

सन्तों का क्रोध

एक बार भीड़ में से चलते हुए एक साधु का पैर एक दुष्ट आदमी को लग गया। इस पर उस आदमी ने मारे क्रोध के आगबबूला हो उस साधु को इतनी बुरी तरह पीटा कि साधु बेहोश होकर गिर पड़ा। शिष्यों के काफी देर तक सेवा-शुश्रूषा करने के बाद जब उसमें कुछ होश आया तब एक शिष्य ने पूछा, 'महाराज, बताइए तो भला कौन आपकी सेवा कर रहा है?' साधु ने कहा – ''जिसने मुझे मारा था।'' यथार्थ साधु को शत्रु और मित्र में भेद नहीं दिखाई देता।

– *श्रीरामकृष्ण*
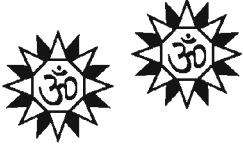
स्वामीजी की अस्फुट स्मृतियाँ

स्वामी शुद्धानन्द
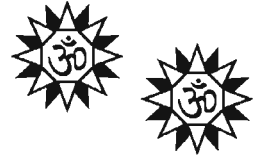
(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

❖ (गतांक से आगे) ❖

आज अपराह्न में बड़ा कमरा लोगों से भरा हुआ था। कमरे के बीच में स्वामीजी अपूर्व शोभा धारण किये बैठे हैं। कई विषयों पर चर्चा चल रही है। हमारे मित्र विजयकृष्ण बसु (अलीपुर अदालत के विख्यात् वकील) भी बैठे हैं। विजय बाबू उन दिनों बीच-बीच में कई सभाओं में – यहाँ तक कि कभी-कभी काँग्रेस में भी खड़े होकर अँग्रेजी में भाषण देते थे। किसी ने स्वामीजी के समक्ष उनकी इस वक्तृता-शक्ति का उल्लेख किया। स्वामीजी बोले, "अच्छा है। अच्छा है। यहाँ पर बहुत-से लोग एकत्र हैं – जरा खड़े होकर एक व्याख्यान दो। आत्मा के विषय में तुम्हारी जो धारणा है, उसी पर कुछ कहो।" विजय बाबू तरह-तरह के बहाने बनाने लगे। पर स्वामीजी तथा अन्य कई लोग उनसे खूब आग्रह करने लगे। १५ मिनट अनुरोध करने के बाद भी जब कोई उनका संकोच दूर करने में सफल नहीं हुआ, तब आखिरकार हार मानकर लोगों की दृष्टि विजय बाबू से हटकर मेरी ओर पड़ी।

मैं मठ में सम्मिलित होने के पूर्व कभी-कभी बँगला भाषा में धर्म-विषयक व्याख्यान दिया करता था। हम लोगों का एक 'वाद-विवाद क्लब' भी था, जिसमें मैं अँग्रेजी बोलने का अभ्यास करता था। किसी ने मेरे बारे में इन बातों का उल्लेख किया और सबका ध्यान मेरी ओर आकृष्ट हुआ। मैं थोड़ा नि:संकोची स्वभाव का हूँ। Fools rush in, where angels fear to tread. (जहाँ जाने में देवता भी डरते हैं, वहाँ मूर्ख घुस पड़ते हैं।) अत: मुझसे उन्हें ज्यादा कहना नहीं पड़ा। मैं खड़ा हो गया और बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में आये 'आत्म-तत्त्व' से आरम्भ करके करीब आधे घण्टे तक बोलता रहा। भाषा या व्याकरण की कोई भूल हो रही है या भाव में कोई असम्बद्धता आ रही है, इसका मैंने विचार ही नहीं किया। दयावान् स्वामीजी भी इन बातों पर ध्यान न देकर मुझे उत्साहित करते रहे।

इसके बाद स्वामीजी द्वारा हाल ही में संन्यासी के रूप में दीक्षित स्वामी प्रकाशानन्द लगभग दस मिनट तक 'आत्मा' पर बोले। वे स्वामीजी की व्याख्यान-शैली को अपनाते हुए खूब गम्भीर स्वर में अपना वक्तव्य कहने लगे। स्वामीजी ने उनके व्याख्यान की भी खूब प्रशंसा की।

अहा ! स्वामीजी सचमुच ही किसी के दोष नहीं देखते थे। जिसमें जो भी कुछ गुण या क्षमता देखते, उसी के अनुसार उसे प्रोत्साहन देकर, उसके भीतर निहित शक्तियों को प्रकट करने का प्रयास करते। परन्तु पाठक, कहीं आप यह समझ बैठें कि वे सभी के हर कार्य की प्रशंसा किया करते थे। ऐसा कदापि नहीं है। हमने अनेकों बार उन्हें अपने अनुरागी गुरुभाइयों तथा शिष्यों के दोष दिखाते तथा उनके प्रति कठोर रूप धारण करते देखा है। परन्तु ऐसा वे हमारे दोषों को दूर करने के लिये या हमें सावधान करने के लिये होता था, न कि किसी प्रकार से हतोत्साहित करने के लिये। ऐसा उत्साह, साहस तथा आशा देनेवाला दूसरा कौन मिलेगा? ऐसा व्यक्ति कहाँ मिलेगा, जो अपने शिष्यों को लिख सके – "I want each one of my children to be hundred times greater than I could ever be. Everyone of you must be a giant - must , that is my word." – "मैं जितना महान् हो सकता हूँ, मैं चाहता हूँ कि मेरा हर शिष्य उससे भी सौ-गुना अधिक महान् हो। तुम लोगों में से प्रत्येक को एक दिग्गज होना पड़ेगा – अवश्य होना पड़ेगा, मैं यही चाहता हूँ।"

* * *

इन्हीं दिनों लन्दन के श्री ई. टी. स्टर्डी स्वामीजी द्वारा इंग्लैंड में प्रदत्त ज्ञानयोग-विषयक व्याख्यानों को छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित करने लगे और उनकी दो-एक प्रतियाँ मठ में भी भेजने लगे। स्वामीजी तब तक दार्जिलिंग से लौटे नहीं थे। अद्वैत तत्त्व की अपूर्व व्याख्या करनेवाले उन उद्दीपनापूर्ण व्याख्यानों को हम लोग विशेष आग्रह के साथ पढ़ने लगे। वृद्ध स्वामी अद्वैतानन्द अँग्रेजी ठीक से नहीं समझ पाते थे, परन्तु 'नरेन' ने विलायत में

जाकर वेदान्त के बारे में जो कुछ कहकर लोगों को मुग्ध किया है, उसे सुनने की उन्हें विशेष इच्छा थी। अत: उनके अनुरोध पर हम उन पुस्तिकाओं को पढ़कर, उनका अनुवाद करके उन्हें सुनाते। एक दिन स्वामी प्रेमानन्द ने नये संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों से कहा, ''तुम लोग स्वामीजी के इन व्याख्यानों का बँगला अनुवाद कर डालो न !'' तब हममें से कइयों ने अपनी पसन्द के अनुसार उन पुस्तिकाओं में से लेकर अनुवाद करना शुरू कर दिया।

इसी बीच स्वामीजी लौट आये। एक दिन प्रेमानन्दजी ने स्वामीजी से कहा, ''इन लड़कों ने तुम्हारे व्याख्यानों का अनुवाद आरम्भ कर दिया है।'' फिर हमारी ओर इंगित करके बोले, ''तुम लोगों में से कौन क्या अनुवाद कर रहा है, स्वामीजी को सुनाओ।'' सबने अपना-अपना अनुवाद लाकर थोड़ा-थोड़ा स्वामीजी को सुनाया। स्वामीजी ने भी अनुवाद के बारे में दो-एक बातें कहीं और बताया कि अमुक शब्द का इस प्रकार अनुवाद ठीक रहेगा।

एक दिन मैं स्वामीजी के पास अकेला बैठा था। उन्होंने सहसा मुझसे कहा, ''राजयोग का अनुवाद कर न !'' मेरे जैसे अनुपयुक्त व्यक्ति को स्वामीजी ने ऐसा आदेश क्यों दिया? काफी काल पूर्व मैं राजयोग की साधना का प्रयास किया करता था। कुछ काल तक उस योग पर मेरा ऐसा अनुराग रहा कि मैं भक्ति, ज्ञान या कर्मयोग को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा था। सोचता कि मठ के साधु लोग योग आदि कुछ जानते नहीं, इसीलिये लोगों को योग-साधना में प्रोत्साहित नहीं करते। स्वामीजी का 'राजयोग' ग्रन्थ पढ़ने पर मैंने पाया कि उस योग के विषय में मेरी जो कुछ भी धारणा थी, उसे उन्होंने उत्तम रूप से समझाया है; मुझे यह भी पता चला कि स्वामीजी राजयोग में विशेष पटु तो हैं ही, भक्ति-ज्ञान आदि अन्य योगों के साथ भी उसका सम्बन्ध उन्होंने अत्यन्त सुन्दर ढंग से दिखाया है। स्वामीजी के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा का यह भी एक विशेष कारण बना। तो क्या उन्होंने इस उद्देश्य से मुझे उस कार्य में प्रवृत्त किया था कि राजयोग का अनुवाद करने से उस विषय का मेरा अच्छा अध्ययन होगा और उससे मेरी आध्यात्मिक उन्नति में भी सहायता मिलेगी? या फिर बंगाल में सच्चे राजयोग की चर्चा का अभाव देखकर, लोगों के भीतर इस योग के यथार्थ मर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से उन्होंने ऐसा किया? प्रमदादास मित्र के नाम एक पत्र में उन्होंने लिखा था, ''बंगाल में राजयोग की चर्चा का बिल्कुल अभाव है। जो कुछ है, वह भी नाक दबाना आदि को छोड़ और कुछ नहीं है।''

अस्तु। स्वामीजी की आज्ञा पाने के बाद, अपनी अयोग्यता आदि की बातें मन में न लाकर, मैं तत्काल उसका अनुवाद करने में जुट गया।

* * *

एक दिन अपराह्न के समय बहुत-से लोग बैठे हुए थे। स्वामीजी के मन में आया कि गीता-पाठ होना चाहिये। गीता लायी गयी। सभी दत्तचित्त होकर सुनने लगे कि देखें, गीता के बारे में स्वामीजी क्या कहते हैं ! उस दिन उन्होंने गीता के विषय में जो कुछ कहा था, उसे दो-चार दिनों बाद स्वामी प्रेमानन्द जी के आदेश पर मैंने याद करके यथासाध्य लिख लिया था। वह 'गीता-तत्त्व' शीर्षक के साथ पहले 'उद्‌बोधन' पत्रिका के द्वितीय वर्ष में प्रकाशित हुआ और बाद में स्वामीजी के 'भारतीय व्याख्यान' ग्रन्थ में जोड़ लिया गया।

व्याख्या शुरू करते समय स्वामीजी एक कठोर समालोचक प्रतीत हुए। कृष्ण, अर्जुन, व्यास, कुरुक्षेत्र का युद्ध आदि की ऐतिहासिकता के विषय में सन्देह के कारणों का जब वे बड़े सूक्ष्म रूप से विश्लेषण करने लगे, तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि अत्यन्त कठोर समालोचक को भी उनके सामने हार मान लेना होगा। यद्यपि ऐतिहासिक तत्त्व का उन्होंने इस प्रकार तीव्र विश्लेषण तो किया, परन्तु इस विषय में अपना मत विशेष रूप से प्रकट किये बिना ही उन्होंने आगे समझाया कि धर्म के साथ इस ऐतिहासिक शोध का कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐतिहासिक शोध के द्वारा शास्त्रों में उल्लेखित व्यक्ति यदि काल्पनिक सिद्ध हो जायँ, तो भी उससे सनातन धर्म को कोई ठेस नहीं पहुँचेगी। ''यदि धर्म-साधना के साथ ऐतिहासिक शोध का कोई सम्पर्क न हो, तो क्या ऐतिहासिक शोध का कोई मूल्य नहीं है?'' – इस प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी ने बताया कि निर्भीक भाव से इन ऐतिहासिक सत्यानुसन्धानों की भी एक विशेष उपयोगिता है। उद्देश्य महान् हो, तो भी उसके लिये मिथ्या इतिहास रचने की कोई जरूरत नहीं ! उल्टे मनुष्य यदि प्राणपण से सभी विषयों में पूर्ण रूप से सत्य का आश्रय लेने की चेष्टा करें, तो एक दिन वह सत्यस्वरूप भगवान का भी साक्षात्कार पा सकेगा।

इसके बाद उन्होंने गीता के मूल-तत्त्व के रूप में सर्वधर्म-समन्वय तथा निष्काम कर्म की संक्षेप में व्याख्या की और श्लोक पढ़ना आरम्भ किया। दूसरे अध्याय के **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ** – ''हे अर्जुन, तुम नपुंसकता को प्रश्रय न दो'' – आदि के द्वारा श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरित करनेवाले वचनों को पढ़कर, वे स्वयं सर्व-साधारण को जिस भाव से उपदेश देते थे, उन्हें स्मरण हो आया – **न एतत् त्वयि उपपद्यते** – ''यह तुम्हें शोभा नहीं देता'' – तुम सर्वशक्तिमान हो, तुम ब्रह्म हो, तुममें जो कई तरह के विपरीत भाव देख रहा हूँ, यह सब तुम्हें शोभा नहीं देता। ऋषि के समान ओजस्वी भाषा में यह तत्त्व समझाते हुए मानो उनके भीतर से तेज निकलने लगा। स्वामीजी कहने लगे, ''जब दूसरों को ब्रह्म-दृष्टि से देखना है, तो महापापी से

भी घृणा करना नहीं चलेगा।'' ''महापापी से भी घृणा मत करो'' – यह बात कहते-कहते स्वामीजी के मुख-मण्डल पर जो भावान्तर उपस्थित हुआ, वह छवि आज भी मेरे हृदय में अंकित है – उनके मुख से प्रेम मानो सैकड़ों धाराओं में प्रवाहित होने लगा था। श्रीमुख मानो प्रेम से उद्दीप्त हो उठा – उसमें कठोरता लेशमात्र भी नहीं रह गयी थी।

''इस एक श्लोक में ही पूरी गीता का सार निहित है'' – यह दिखाने के बाद स्वामीजी ने यह कहते हुए अपने वक्तव्य का उपसंहार किया, ''इस एक श्लोक को पढ़ने से ही समग्र गीता-पाठ का फल होता है।''

* * *

एक दिन स्वामीजी ने ब्रह्मसूत्र लाने के लिये कहा। बोले, ''इस समय तुम लोग ब्रह्मसूत्र के भाष्य की सहायता लिये बिना ही स्वतंत्र रूप से सूत्रों का अर्थ समझने की चेष्टा करो।'' प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सूत्रों का पाठ शुरू हुआ। स्वामीजी यथार्थ संस्कृत उच्चारण की शिक्षा देने लगे, बोले – ''हम लोग (बंगाल में) संस्कृत भाषा का ठीक उच्चारण नहीं करते। इसका उच्चारण इतना सरल है कि थोड़ी चेष्टा करने से ही सभी लोग संस्कृत का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। हम बचपन से ही भिन्न प्रकार का उच्चारण करने के अभ्यस्त हो गये हैं, इसीलिये इस प्रकार का उच्चारण इस समय हम लोगों को इतना विचित्र तथा कठिन प्रतीत होता है। हम लोग 'आत्मा' शब्द का उच्चारण 'आत्ताँ' के रूप में क्यों करते हैं? महर्षि पतंजलि अपने महाभाष्य में कहते हैं – अपशब्द उच्चारण करनेवाले म्लेच्छ हैं। अत: उनके मतानुसार तो हम सभी म्लेच्छ ही हुए।'' तब नवीन ब्रह्मचारी और संन्यासीगण एक-एक करके यथा-साध्य ठीक-ठीक उच्चारण करके ब्रह्मसूत्र पढ़ने लगे।

इसके बाद स्वामीजी वह उपाय बतलाने लगे, जिससे सूत्र का प्रत्येक शब्द लेकर उसका अक्षरार्थ किया जा सके। वे बोले, ''यह कौन कहता है कि ये सूत्र केवल अद्वैत मत के ही पोषक हैं? शंकर अद्वैतवादी थे, इसलिये उन्होंने सभी सूत्रों की केवल अद्वैत-परक व्याख्या करने की चेष्टा की है, परन्तु तुम लोग सूत्र का अक्षरार्थ करने की चेष्टा करना और यह समझने की चेष्टा करना कि व्यास का यथार्थ अभिप्राय क्या है। उदाहरण के रूप में देखो – **अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति**[१] – 'वेद इस (जीवात्मा) के साथ उस (परमात्मा) के पूर्ण तादात्म्य की शिक्षा भी देते हैं।' इस सूत्र की ठीक-ठीक व्याख्या करते हुए मुझे लगता है कि यहाँ भगवान वेदव्यास ने अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत – दोनों ही वाद प्रस्तुत किये हैं।''

अस्तु, पाठ आगे चला गया। बाद में – **शास्त्रदृष्ट्या तु उपदेशो वामदेववत्**[२] सूत्र आया। इसका अर्थ है – जिसने शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट **तत्त्वमसि** के सत्य की अनुभूति कर ली है, उसे परम ब्रह्म के साथ एकत्व का बोध हो जाता है। इस सूत्र की व्याख्या के बाद स्वामीजी प्रेमानन्दजी की ओर देखकर कहने लगे, ''देखो, तुम्हारे श्रीरामकृष्ण जो अपने को भगवान कहते थे, वह इसी भाव से कहते थे।'' परन्तु यह कहने के बाद वे दूसरी ओर मुँह फेरकर कहने लगे, ''लेकिन मुझे तो उन्होंने अपने अन्तिम समय में कहा था – 'जो राम, जो कृष्ण, वही इस बार रामकृष्ण है, पर तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।'' इसके बाद उन्होंने अगला सूत्र पढ़ने को कहा।

स्वामीजी में अपार दया थी। उन्होंने हमसे कभी सन्देह त्यागने को नहीं कहा और न झट से किसी की बात पर विश्वास ही कर लेने को कहा। उन्होंने कहा था – ''तुम लोग अपनी क्षुद्र विद्या-बुद्धि के द्वारा जहाँ तक सम्भव हो, इस अद्भुत रामकृष्ण-चरित्र पर चर्चा करो, अध्ययन करो – मैं तो अब तक इसका लाखवाँ भाग भी नहीं समझ सका। इसे जितना ही समझने की चेष्टा करोगे, उतना ही सुख पाओगे, उतना ही उनमें डूब जाओगे।''

* * *

स्वामीजी एक दिन हम लोगों को पूजा-गृह में ले जाकर साधन-भजन सिखलाने लगे। बोले, ''पहले सब लोग आसन लगाकर बैठो, सोचो – मेरा आसन दृढ़ हो, यह आसन अचल-अटल हो, इसी की सहायता से मैं संसार-समुद्र के पार जाऊँगा।'' सबके इसी प्रकार थोड़ी देर चिन्तन करने के बाद वे बोले, ''सोचो – मेरा शरीर नीरोग और स्वस्थ है, वज्र के समान दृढ़ है, इस देह की सहायता से ही मैं संसार के पार जाऊँगा।'' इसी प्रकार कुछ देर चिन्तन कराने के बाद स्वामीजी फिर बोले, ''अब सोचो कि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण – चारों दिशाओं में मेरी ओर प्रेम का प्रवाह बह रहा है – हृदय के भीतर से सम्पूर्ण जगत् के लिये शुभकामना नि:सृत हो रही है – सभी का कल्याण हो, सभी स्वस्थ तथा नीरोग हों। इस चिन्तन के बाद थोड़ी देर प्राणायाम करना, अधिक नहीं, तीन प्राणायाम करना ही पर्याप्त है। इसके बाद हर व्यक्ति हृदय में अपने-अपने इष्टदेव की मूर्ति का चिन्तन और मंत्रजप लगभग आधे घण्टे तक करेगा।'' सभी लोग स्वामीजी के उपदेशानुसार चिन्तन आदि की चेष्टा करने लगे।

इस प्रकार की सामूहिक साधना मठ में काफी काल तक हुआ करती थी और स्वामीजी की आज्ञा से तुरीयानन्दजी नये संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को लेकर बहुत समय तक, 'अब इस प्रकार चिन्तन करो, उसके बाद ऐसा करो', आदि बतलाकर और स्वयं भी वैसा ही करते हुए स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट साधना-प्रणाली का अभ्यास कराते थे।

❖ (क्रमशः) ❖

१. ब्रह्मसूत्र, १/१/१९ २. वही, १/१/३०

भाग्य का चक्र

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमशः उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'रामेश्वर टांटिया समग्र' ग्रन्थ के कुछ अंश। – सं.)

उन्नीसवीं सदी की बात है। रामगढ़ से फतेहपुर (शेखावटी) बारात जा रही थी। बहुत-से हाथी, घोड़े, रथ और ऊँट थे; जो जरीदर रेशमी कपड़ों की 'झूल' के साथ चाँदी और सोने के गहनों से सजे थे। बारातियों की संख्या हजार तक पहुँच गयी थी। गाँव के गरीब-से-गरीब घर का आदमी भी बारात में निमन्त्रित था। यह बारात थी सेठ रामबिलास के पुत्र नन्दलाल के विवाह की, जिसकी चर्चा बाद के बहुत वर्षों तक होती रही।

भिवानी में उनका बड़े पैमाने पर कारोबार था। उन दिनों व्यापार की वही बड़ी मंडी थी। राजस्थान की चीजें दूसरे प्रान्तों में और दूसरे प्रान्तों से राजस्थान में, भेजने-मँगाने का माध्यम भिवानी ही था।

सेठजी के अपने परिवार में कुल चार व्यक्ति थे। स्वयं पत्नी और पुत्रवधू। परन्तु वे इतने उदार और कुटुम्ब-वत्सल थे कि दूर के बहुत-से सम्बन्धी भी उन पर आश्रित रहते। उनके दरवाजे से शायद ही कभी कोई अतिथि या याचक निराश लौटा हो। यह उदारता यों किंवदन्ती बन गयी थी कि उन्होंने गीदड़ों के लिये भी सर्दी से बचाव के लिये रजाइयाँ बनवायी थीं।

प्रौढ़ होने के पहले ही सेठजी का देहान्त हो गया और साथ ही परिवार का संकट-काल भी प्रारम्भ हो गया। वहाँ के सारे लोग दुखी होकर रो रहे थे, जैसे कि उनके कुटुम्ब का ही कोई मर गया हो। साथ ही एक और दुर्घटना घट गई। उनके शव की प्रदक्षिणा के लिये स्त्रियाँ जब सेठानी जी को लाने गईं, तो देखा की वे भी इहलोक छोड़कर पति की आत्मा के पास जा चुकी हैं। दोनों की अर्थियाँ साथ-साथ उठीं और दोनों का एक ही चिता में दाह-संस्कार किया गया। शायद ही गाँव का या आस-पास का कोई आदमी बचा हो होगा, जो इनकी शवयात्रा में शामिल न हुआ हो।

विशाल हवेली में अब उनका पुत्र, अपनी पत्नी तथा दो बच्चों के साथ रह गया था। मनुष्य के भाग्य और फिरत-घिरत की छाया को एक ही उपमा दी गई है। 'सूतक' की समाप्ति के बाद आये हुए मेहमान जब चले गये, तो नन्दलाल कारोबार सँभालने के लिये भिवानी गया। वहाँ अपने मुनीमों से अपनी आर्थिक स्थिति की जानकारी मिलने पर, उसके आश्चर्य और दुःख का ठिकाना न रहा। पिछले कई वर्षों से व्यापार तो घाटे में चल रहा था। जबकि दान-पुण्य और दूसरे खर्चे प्रतिवर्ष बढ़ते जा रहे थे।

धन्धा बन्द हो गया। मुनीम-गुमाश्ते छोड़कर चले गये। कर्ज चुकाने में पत्नी के सारे गहने बिक गये और बड़ी हवेली गिरवी पर रख दी गई। परिवार के सब लोग किराये के एक छोटे-से मकान में रहने लगे। परिस्थिति यहाँ तक बिगड़ती गई कि दोनों समय का खाना जुटाना भी मुश्किल हो गया। पत्नी बड़े घर की बेटी थी और बड़े घर में ही बहू बनकर आई थी। किसी समय बीसों नौकर और नौकरानियाँ घर के काम के लिये थे, पर अब रसोई के अलावा बर्तन माँजना और बुहारना-झाड़ना आदि सब काम उसे स्वयं करने पड़ते थे। थोड़ी-बहुत सहायता बच्चे कर देते थे। मुँह-अँधेरे ही पति-पत्नी कुँएँ से पानी ले आते, क्योंकि दिन चढ़ने के बाद लोगों की भीड़ में उन्हें संकोच होता था।

जब कष्ट सीमा से बाहर होने लगे, तो पत्नी ने पतिदेव को सहायता के लिये अपने भाइयों के पास जाने को कहा, जिनका मालवा तथा दूसरे देशावरों में बड़े पैमानों पर कारोबार था। जिन लोगों ने सब जानते हुए भी बहन और उसके बच्चों की संकट के समय खबर तक नहीं ली, उनके यहाँ सहायता के लिये जाने की इच्छा तो नहीं थी, पर पत्नी द्वारा बार-बार आग्रह के कारण, उसने उज्जैन जाना तय कर लिया। विदा के समय पत्नी ने किसी तरह व्यवस्था की, रास्ते के लिये खाने का सामान तैयार कर एक कपड़े में बाँध दिया।

एक शाम, तालाब के किनारे हाथ-मुँह धोकर खाने की तैयारी में था कि कुछ साधु-महात्मा आ गये और उससे भिक्षा माँगी। जिसके घर में पिता के समय सैकड़ों अतिथि-अभ्यागत नित्य भोजन पाते थे, वह भला 'न' कैसे करता? उसने स्वयं भूखे रहकर सारी सामग्री उन्हें दे दी।

दूसरे दिन, दोपहर के बाद जब वह ससुराल की कोठी पर पहुँचा, तो रास्ते की थकावट तथा भूख के कारण कैसा

ही लग रहा था ! उसके दोनों साले वहाँ कई मित्रों के साथ बातचीत कर रहे थे। उन्होंने न तो उसकी आवभगत की और न बहन या बच्चों की कुशल-क्षेम ही पूछी। शाम होने पर मुनीमों को उसे ढाबे में खिलाने को कहकर वे घर चले गये।

इस प्रकार अपमानित होने पर उसके दुःख और ग्लानि की सीमा न रही। परन्तु गाँव लौटने का किसी प्रकार का साधन नहीं था; इसलिये उसी शहर में अपने एक मित्र के यहाँ गया, जिसकी किसी समय उसके पिता ने सहायता की थी।

सभी मनुष्य एक जैसे नहीं होते। मित्र बड़े ही प्रेम से मिला और सारी स्थिति की जानकारी के बाद हर प्रकार की सहायता का वचन दिया। दूसरे दिन से ही, फिर से रामविलास नन्दलाल की फर्म स्थापित हो गई। देशावरों में इस फर्म की ईमानदारी और कार्यक्षमता की साख थी। इसलिये पहले के व्यापारिक सम्बन्ध फिर से जुड़ गये और थोड़े ही समय में व्यवसाय जम गया।

साल भर बाद वह लखपति बनकर घर लौटा। पत्नी ने भाइयों का समाचार पूछा, तो राजी-खुशी बताकर दूसरी बातों में टाल दिया। उसकी पत्नी को तो यही विश्वास था कि मायके-वालों के सहयोग और कृपा से ही यह सब हुआ है।

एक महीने बाद ही वह फिर उज्जैन आ गया और इस बार ज्यादा हिम्मत से व्यापार करने लगा। भाग्य ने साथ दिया और दो वर्ष बाद, वह दुबावा अपने गाँव लौटा, तब तक नन्दलाल करोड़पति हो चुका था। कर्ज चुकाकर पिता की बनाई हुई बड़ी हवेली छुड़ा ली। फिर से एक बार मुनीम-गुमाश्ते, नौकर-चाकरों तथा कुटुम्बियों से घर भर गया।

ससुराल में साले के लड़के का विवाह था। निमंत्रण देने के लिये वर का बड़ा भाई स्वयं कुंकुम-पत्रिका लेकर आया। जो पत्र वह साथ लाया था, उसमें बहुत वर्षों से बहन और बच्चों को न भेजने का उलाहना था और इस अवसर पर सबको जरूर-जरूर बुलाया था।

नन्दलाल की इच्छा वहाँ जाने की नहीं थी, परन्तु पत्नी बार-बार भाइयों के उपकार का बखान कर रही थी। इस बीच में उसने मायके जाने की सारी तैयारी भी कर ली। अतः विवाह में शामिल होने के लिये रवाना हुये। वह स्वयं तो घोड़े पर था, पत्नी तथा बच्चे रथों में और दूसरे राजपूत-सरदार, नाई, नौकर आदि ऊटों पर थे। फतेहपुर से एक कोस दूर पर ही अगवानी के लिये दोनों सालों के सिवा गाँव के बहुत-से प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आये। पत्नी तो हवेली में चली गयी और सेठ नन्दलाल के डेरे एक बहुत सजी हुई कोठी में लगे। रात्रि में भोजन के लिये हवेली में तैयारी की गई थी। चाँदी-सोने के थालों में नाना प्रकार के व्यंजन सजे थे। खातिरदारी में परिवार के सारे लोग हाथ बाँधे खड़े थे। स्त्रियाँ मधुर रागिनी में सीठणें (विशेष गीतें) गा रही थीं।

भोजन के लिये कहा गया, तो उसने अपने हाथ की हीरे की अंगूठी को थाल में रखकर उसे खाने के लिये कहा। उन लोगों को बात समझ में नहीं आई। दूसरी बार आग्रह करने पर उसने गले से पन्ने के हार को निकाल कर उसे भोजन करने को कहा। किसी बड़े-बूढ़े ने कहा, ''जमाई, हँसी-दिलग्गी बहुत हो चुकी, अब कृपया भोजन कीजिये।''

वह बिना भोजन किये ही उठ गया और बोला – यह मान-सम्मान तो मेरा नहीं, मेरे हीरे-पन्ने और धन-दौलत का हो रहा है। नहीं तो, तीन वर्ष पूर्व जब मैं इनके यहाँ आया था, तो इन लोगों ने मुझे पहचाने तक से इन्कार कर दिया था। पत्नी को सच्चाई की जानकारी कराने के लिये मुझे आना पड़ा, वरना मैंने उसी दिन इन लोगों से किसी भी तरह सम्बन्ध न रखने की प्रतिज्ञा कर ली थी।

उसने महिलाओं के बीच में बैठी अपनी पत्नी को बुलाया और अपने बच्चों तथा दूसरे साथ के लोगों को लेकर उसी समय रामगढ़ रवाना हो गया।

विवाह का अवसर था। घर नाते-रिश्तेदारों से भरा था, परन्तु इतनी बड़ी घटना के बाद किसी की भी उन्हें रोकने की हिम्मत नहीं हुई। ❑❑❑

पुरखों की थाती

प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे मित्र-बान्धवाः।
कर्मान्ते दास-भृत्याश्च पुत्रा नैव तथा स्त्रियः।।

– गुरुजनों की स्तुति उनके सामने, मित्र-बन्धुओं की उनके पीछे, दास-सेवकों की प्रशंसा उनका कार्य पूरा होने पर और स्त्री-पुत्रों की कभी नहीं करनी चाहिये।

परैः प्रोक्ता गुणा यस्य निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः।।

– जिसका दूसरे लोग गुणगान करते हैं, वह गुणहीन होकर भी सचमुच का गुणी हो जाता है; (परन्तु) अपने ही गुणों का स्वयं बखान करनेवाला यदि इन्द्र भी हो, तो छोटा बन जाता है।

मक्षिका व्रणमिच्छन्ति धनमिच्छन्ति पार्थिवाः।
नीचाः कलहमिच्छन्ति शान्तिमिच्छन्ति साधवः।।

– मक्खियाँ सड़े-गले घावों को ढूँढ़ती हैं, राजा लोग धन की इच्छा करते हैं, दुष्ट लोग लड़ाई-झगड़े की ताक में रहते हैं और साधु या सज्जन लोग शान्ति तथा सद्भाव की कामना करते हैं। ❑❑❑

रणभूमि में गीतोपदेश : स्वामी विवेकानन्द जी की दृष्टि

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

त्यागमूर्ति भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से नि:सृत श्रीमद्भगवद्गीतामृत के सम्बन्ध में भारतीय संस्कृति के उन्नायक स्वामी विवेकानन्द जी ने मद्रास में प्रदत्त अपने व्याख्यान में कहा था – ''बिना गीता का अध्ययन किये श्रीकृष्णचरित कभी समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि अपने उपदेशों के वे साकार स्वरूप थे। प्रत्येक अवतार, जिसका प्रचार करने वे आये थे, उसके जीवित उदाहरण के रूप में अवतरित हुए। गीता के प्रचारक श्रीकृष्ण सदा भगवद्गीता के उपदेशों की साकार मूर्ति थे, वे अनासक्ति के उज्जवल उदाहरण थे। उन्होंने अपना सिंहासन त्याग दिया और कभी उसकी चिन्ता नहीं की। जिनके कहने से ही राजा अपने सिंहासनों को छोड़ देते थे, ऐसे समग्र भारत के नेता ने कभी स्वयं राजा होना नहीं चाहा।'' (विवेकानन्द सा. खं-५,पृ. -१५१)

मन में यह जिज्ञासा होती है कि ऐसा कौन-सा अलौकिक असाधारण श्रीकृष्ण का जीवन था कि सभी नृपति उनकी पाद-वन्दना करते थे और यह कैसा असामान्य विशेष ग्रन्थ है, जो भगवान श्रीकृष्ण के इस उदात चरित्र का एकमात्र प्रकाशक एवं अभिव्यक्त करनेवाला है। कभी-कभी देखा जाता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करनेवाली वाक्शैली, शब्द-संयोजन, पद-न्यास, और व्याख्या-शक्ति के अभाव में वह व्यक्तित्व अभिव्यक्त हो नहीं पाता, वह अप्रकाशित ही रह जाता है,। जैसा व्यक्तित्व था, वैसा उसका समाज के सम्मुख प्रकटीकरण नहीं होता। लेकिन 'गीता' इस महान् तत्त्व की अभिव्यक्ति में सर्वाधिक सफल रही है।

'गीता' के चिन्तनीय एवं वर्तमान में प्रासङ्गिक बहुत से दृष्टिकोण हैं। लेकिन यहाँ हम श्रीकृष्ण की रणभूमि में गीता पर विवेचन करेंगे। क्योंकि हम सभी अपने जीवन-संग्राम से सदैव संघर्षरत हैं। हिमालय के गह्वर में, किसी शान्त वनस्थली में, किसी तप:पूत तपस्थल में या किसी भवन के बन्द प्रकोष्ठ में कोई गुप्त मन्त्रणा करना या रहस्यपूर्ण तत्त्वोपदेश देना समीचीन प्रतीत होता है, लेकिन दो सेनाओं के मध्य में, रणभेरी बजने के बाद, संग्राम-शंखनाद-घोष हो जाने के बाद, शान्ति का नहीं, अपितु युद्ध का आदेश देना असाधारण ही प्रतीत होता है, लेकिन यह सत्य है। ऐसा ही हुआ था।

आज जब कोई विवाद या युद्ध की आशङ्का होती है, तो दोनों पक्ष शान्ति समाधान का प्रयास करते हैं, लेकिन श्रीकृष्ण जैसे प्रशान्त शान्तिशील व्यक्ति अर्जुन को युद्ध के लिये उत्प्रेरित करते हैं। वे श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं –

सुखे दु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चय: ।।

२/३८-३७

– ''हे अर्जुन ! सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान मानकर युद्ध करो, इससे तुम्हें पाप स्पर्श तक नहीं करेगा। युद्ध में मरने पर तुम वीरगति को प्राप्त होकर स्वर्ग पाओगे अथवा युद्ध में विजयी होने पर सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करोगे, वीरभोग्या-वसुन्धरा को चरितार्थ करोगे, इसलिये हे कुन्तीपुत्र अर्जुन उठो! और दृढ़ निश्चय के साथ युद्ध करो।'' महायोद्धा श्रीकृष्ण इस प्रकार से युद्धार्थ कौन्तेय का आह्वान करते हैं और उन्हे आदेश देते हैं।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान ने ऐसा क्यों किया? उन्होंने देखा, धर्मी धर्महीन हो मार्ग भटक रहा है, दूध दूधत्व, प्रकाश प्रकाशत्व, ज्ञानी ज्ञान का परित्याग कर रहा है। और स्वधर्म, स्वगुण, स्वभाव को छोड़ने का जो दुष्परिणाम होता है, वह सम्मुखीन है। एक क्षत्री क्षत्रियत्व का, एक सैनिक सैनिकत्व का त्याग कर रहा है, इससे देश तो परतन्त्र होगा ही साथ ही दुर्जनों, अधर्मियों, अनैतिकों के हाथों में शासन की बागडोर जाने से सर्वस्व नाश हो जायेगा। अत: भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा युद्ध-भूमि में ही युद्ध करने का निर्देश देना एवं पूरे युद्ध में अन्त तक अपने शिष्य के साथ रहकर उसका मार्ग-दर्शन करना, यह पूर्णत: व्यावहारिक और प्रासङ्गिक है। यही श्रीकृष्ण की असाधारण मेधाशक्ति एवं महान व्यक्तित्व का परिचायक है।

भगवान श्रीकृष्ण की महत्ता प्रतिपादित करते हुए स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं – ''जहाँ तक मैं जानता हूँ, वे (श्रीकृष्ण) एक सुसामञ्जस्यपूर्ण-मस्तिष्क, हृदय और कर्मनैपुण्य (ज्ञान-भक्ति-कर्म) में आश्चर्यजनक रूप से समविकसित व्यक्ति हैं। उनका प्रत्येक क्षण क्रियाशीलता से चाहे वह एक

सम्भ्रान्त-जन की हो, योद्धा, अमात्य या किसी अन्य की हो जीवन्त है। वे एक सम्भ्रान्त पुरुष, एक विद्वान् और एक कवि के रूप में महान् हैं। इस सर्वतोमुखी और आश्चर्यजनक क्रियाशीलता तथा हृदय-मस्तिष्क के समन्वय को तुम गीता और अन्य ग्रन्थों में पाते हो। वे प्रत्येक वस्तु का उपयोग जानते हैं और जब जहाँ आवश्यक होता है, वे वहाँ विद्यमान रहते हैं।'' (वि.सा., खं-७, पृ-२९२-२९३)

श्रीकृष्ण केवल उपदेश देकर, शिष्य को संग्राम के बीच भेजकर स्वयं द्रष्टा मात्र नहीं थे, अपितु वे पूर्ण व्यावहारिक थे। वे रणभूमि में समस्त निर्देशों को देने के पश्चात् जब जैसी आवश्यकता पड़ती है, तब वैसा दिग्दर्शन करते हैं और अन्तिम क्षण तक साथ में रहकर अपने शिष्य की रक्षा करते हैं। यह उनके जीवन की बड़ी विलक्षण विशेषता है।

जब अर्जुन विषादग्रस्त हो जाते हैं, जब उन्हें युद्ध की विभीषिका से भय होता है, जब उन्हें युद्ध में होनेवाले रक्तपात एवं अपने ही स्वजनों, गुरुओं के हत्या का पाप-स्मरण होता है, तब वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। वे 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहते हुये श्रीकृष्ण के चरणों में पूर्णतः समर्पण करते हैं और उनसे दिशा-निर्देश की प्रार्थना करते हैं। तत्पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें आत्मतत्त्व, निष्काम कर्म, ज्ञान-भक्ति आदि का उपदेश दिया। इस पर भी जब अर्जुन युद्ध के लिये तत्पर नहीं हुए, तो उन्हें अपना विश्वरूप-दर्शन कराया। उसके बाद वे कहते हैं कि मैंने यह गोपनीय ज्ञानतत्त्व तुम्हें प्रदान किया है। हे अर्जुन ! **विमृश्य एतद् अशेषेण यथा इच्छसि तथा कुरु** – इसका पूर्णरूपेण विश्लेषण कर लो और जो तुम्हें उचित प्रतीत हो वही करो। अन्त में वे अर्जुन को अभय देते हुए कहते हैं –

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।
१८/६६

– हे अर्जुन ! सभी कर्तव्य-अकर्तव्य के विचार का त्याग कर, मेरे शरणागत हो जाओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम न तो किसी के लिये शोक करो और न ही कोई दुश्चिन्ता करो। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण सब प्रकार से शिष्य को निर्भय करके कहते हैं – **तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च** – अतः सर्वदा मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो।

महाभारत का युद्ध, तत्कालीन समस्याओं का एक मात्र समाधान था। वह काल की पुकार का परिणाम था। सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तनार्थ, धर्मचक्र के परिवर्तन के लिये एकमेव शेष पथ था, सनातन संस्कृति के रक्षार्थ केवल युद्ध ही विकल्प अवशेष था, इसलिये भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने का संदेश और आदेश दिया, उन्हें युद्ध हेतु अनुप्राणित कर युद्ध में संलग्न किया।

लेकिन श्रीकृष्ण का वैशिष्ट्य यह है कि वे युद्ध-स्थल में, उभय सेनाओं के मध्य में, बिगुल बजने के बाद, अर्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा और उत्साह प्रदान कर रहे हैं, पार्थ के जटिल प्रश्नों के उत्तर भी दे रहे हैं तथा घोड़ों की लगाम को जोरों से खींचकर उन्हें आगे बढ़ने से रोके हुए हैं, फिर भी मुख-मुद्रा प्रशान्त एवं हास्य वदन है। उनके मुखारविन्द पर श्रम-सीकर नहीं, बल्कि शान्ति और आनन्दोत्फुल मधुर मुस्कान है।

स्वामी विवेकानन्द को श्रीकृष्ण का यह स्वरूप बहुत ही प्रिय एवं प्रेरणादायी था। वे कहते हैं – ''श्रीकृष्ण ने युद्धक्षेत्र के बीच उपदेश दिया। वह, जो प्रचण्ड कर्म में स्वयं को परम शान्त देखता है और परम साम्यावस्था में प्रचण्ड कर्म को देखता है, वही महान् और श्रेष्ठ ज्ञानी है। उसके चतुर्दिक आयुधों का उड़ते रहना इस व्यक्ति के लिये कोई अर्थ नहीं रखता। शान्त और धीर बने रहकर वे जीवन और मृत्यु की समस्याओं का निरूपण करते चले जाते हैं।'' (वि.सा., खं-७,पृ-२९२)

श्रीकृष्ण की महिमा के विषय में महामना मदन मोहन मालवीय जी कहते हैं – ''सभी महापुरुषों में सबसे बड़े हैं भगवान कृष्ण। आपने अपने आचरण और वचनों से जो उपदेश इस दुनिया को दिया है, उसकी कोई उपमा नहीं है।'' (विवेकशिखा, दिसम्बर-१९९९, पृ-२९)

भगवान श्रीकृष्ण के जीवन का वह अंश – रणभूमि में उनका मुस्कुराता हुआ मुखमण्डल, आज भी अत्यन्त प्रासंगिक एवं उपयोगी है। हमारा जीवन एक संग्राम है। हमें अपनी दिव्यता को प्रकाशित करने के लिये सदैव आसुरी-दुष्प्रवृत्तियों एवं अपने कुसंस्कारों से संघर्ष करना पड़ता है। हम सदैव संघर्षरत हैं। कभी-कभी कुप्रवृत्ति और कुसंस्कार रूपी दैत्य हमें पराजित कर देते हैं और हम हताश एवं निराश हो जाते हैं। उस समय श्रीकृष्ण के रणभूमि का यह रूप हमें सान्त्वना एवं उत्साह प्रदान करता है। हमें नयी प्रेरणा प्रदान करता है। अतः हमें अपने जीवन-संग्राम से विमुख और हताश न होकर पूर्ण उत्साह के साथ संघर्ष कर सफल होना चाहिए, लेकिन रण-भूमि में हमारा मुख-मण्डल सदैव उद्भासित और खिलखिलाता रहे। हमारी प्रसन्न मुद्रा से मुग्ध हो काल भी प्रत्यावर्तित हो जाय। इस संसार-संग्राम की सफलता का पर्यवसान, प्रशान्त मुख-मुद्रा एवं सरस, मधुर मुस्कान में हो, जिसकी शिक्षा हमें भगवान श्रीकृष्ण ने अपने जीवन के अन्त तक प्रदान की।
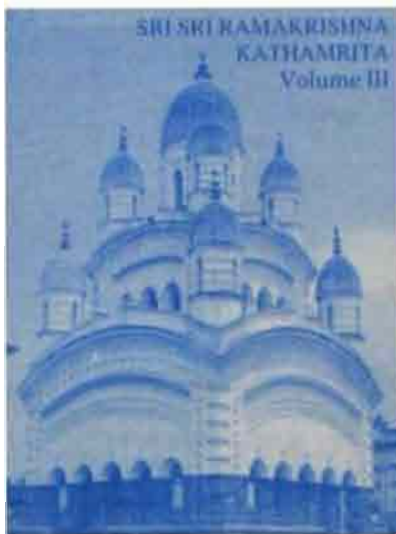
JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

❑ **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

❑ **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. **This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.**

ENGLISH SECTION

❑ Sri Sri Ramakrishna Kathamrita	Vol. I to III	Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
❑ M., the Apostle & the Evangelist (English version of Sri Ma Darshan)	Vol. I to X	Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
❑ Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial		Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
❑ Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita		Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
❑ A Short Life of M.		Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

❑ **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com